

विश्व धर्म सभा

समोसरण



लेखक एवं समीक्षक
उपाध्याय कनकनन्दी

ਖਿੜਥ-ਧਰਮ ਭਾਸ਼ਾ

ਕਸ਼ਮੋਕਾਣ

ਡਾਕਧਾਰੀ ਅਨਾਨਨਦੀ

विश्व-धर्म क्षमा

लेखक एवं संग्राहक	- उपाध्याय कनकनन्दी
सहयोगी	- मुनि श्री विद्यानन्दी जी, मुनिश्री गुप्तिनन्दी जी, आर्थिका राज श्री, आर्थिका क्षमा श्री
संपादक मण्डल	- श्री प्रभात कुमार जैन (एम.एससी. रसायन प्रवक्ता) मुजफ्फर नगर। श्री रघुवीर सिंह जैन (एम.एससी., एल.एल.बी.) मुजफ्फर नगर। श्री सुशील चन्द जैन (एम.एससी. भौतिकी) बड़ौत।
मन्त्री	- श्री गुणपाल जैन (मुजफ्फर नगर)
प्रकाशन संयोजक	- श्री नेमीचन्द काला, जयपुर
ज्ञानदानी	- श्रीमती गुलाब बाई धर्मपत्नी श्री बापू लाल जी पटवारी द्वारा श्री भंवर लाल जी, प्रकाश चन्द जी जैन, सुरेश कुमार जी एवं अनिल कुमार जी बिजौलियाँ, जिला भीलवाड़ा (राजस्थान)
सर्वाधिकार	- सुरक्षित लेखकाधीन
प्रथम संस्करण	- 1994
मूल्य	- स्वाध्याय, ज्ञान प्रचारार्थ सहयोग राशि (21.00)
प्रतियाँ	- 1101
प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान	<ul style="list-style-type: none"> - 1. धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन बड़ौत (U.P.) 2. नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, दीखाना, जयपुर - 3 (राजस्थान) 3. प्रभात कुमार जैन 48, कुन्ज गलि, अबुपुरा मुजफ्फर नगर-251 002 (यू.पी.) - नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर - 3 (राजस्थान)
मुद्रणकार्य	

शुभाशीर्वादि

समवसरण (विश्व धर्म सभा) का वर्णन जैनागम में बहुत ही विस्तृत, बहुत ही रोचक एवं बहुत ही रहस्यमय है। समवशरण के प्रतिकृति की रचना भी भारत में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक यत्र-तत्र पायी जाती है। परन्तु इन रचनाओं में समवसरण के सम्पूर्ण भागों को पूर्णतः प्रगट करना संभव नहीं होता। जैन धर्म में देव-शास्त्र-गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है और समवसरण में देव-शास्त्र-गुरु की उपस्थिति रहती है और यहां ही जिनवाणी की उत्पत्ति होती है। जैनियों के लिये समवसरण एक महत्वपूर्ण एवं जिज्ञासा और श्रद्धा का विषय है। इसलिये मेरा जहां भी आगमन होता है वहां के व्यक्ति मुझसे समवसरण के बारे में प्रश्न करते हैं। उसके उत्तर स्वरूप में, मैं तो संक्षिप्त वर्णन करता हूँ परन्तु पूर्ण वर्णन समयाभाव होने के साथ-साथ सुनने वालों की क्षमता एवं योग्यता की कमी के कारण नहीं हो पाता है। इसलिये मेरा अनेक वर्षों से विचार था कि समवसरण के बारे में सांगोपांग वर्णन पूर्वोचार्यों कृत साहित्य के आधार पर एवं आधुनिक वैज्ञानिक परिपेक्षा में करूँ। वह विचार आज साकार होकर आप लोगों के समक्ष है। यह विचार आपके समक्ष प्रस्तुत होने के लिए पटवारी परिवारों का महत्वपूर्ण योगदान है, क्योंकि उन्होंने अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग करके, वे इस कृति का प्रकाशन करवा रहे हैं। इसके लेखन कार्य में सहायता करने वाली निवाई की धार्मिक शिष्यार्थ-कु. सन्मति जैन, कु. रेखा पाटनी, कु. हैष्ठी, कु. हीरा, कु. साधना, कु. शिमला तथा बिजौलियाँ निवासी - सुमन जैन, श्वेता जैन, मैना जैन, सीमा जैन, शालिनी जैन, नीरज कुमार जैन हैं। द्रव्यदाता एवं सहायकों को मेरा शुभाशीर्वाद है।

इस पुस्तक को पढ़कर भव्य जीव मोक्षमार्ग में कदम पर कदम आगे बढ़ाते चलें ऐसी मेरी शुभ कामना है।

उपाध्याय श्री कनकनन्दी
बिजौलियाँ

विषय - भूची

अध्याय	विषय अनुक्रमणिका	पृष्ठ-संख्या
प्रथम :		
1.	जन्म के दस अतिशय	3
2.	केवलज्ञान कल्याणक	8
3.	केवलज्ञान के ग्यारह अतिशय	9
4.	चोबीसों तीर्थঙ्करों के केवलज्ञान की तिथि, समय, नक्षत्र और स्थान	15
5.	ऋषभादि तीर्थकरों का केवलीकाल	19
6.	18 दोष रहित तीर्थकर	23
7.	दिव्य-ध्वनि	27
8.	देवकृत तेरह अतिशय	40
9.	अष्टमहाप्रातिहार्य	52
10.	ऋषभादि तीर्थकरों के यक्ष	64
11.	प्रत्येक तीर्थकर के गणधरों की संख्या	65
द्वितीय :		
1.	समवसरण के 31 विभाग	67
2.	प्रवेश-निर्गमन प्रमाण	135
3.	समवसरण में कौन नहीं जाते ?	135
4.	समवसरणों में वंदनारत जीवों की संख्या	137
5.	विश्व-धर्म सभा के प्रभाव से वैरत्व दूर	139
तृतीय :		
1.	समोवसरण का वैचित्र्यपूर्ण वर्णन	141
2.	महावीर भगवान् का समवसरण	164
3.	विश्व-धर्म सभा का संक्षिप्त परिचय	177
4.	सिद्ध-स्वरूप	235

अद्याय प्रथम

प्रत्येक जीव का मूलभूत प्राकृतिक स्वभाव अमृत स्वरूप है तथापि यह जीव अनादिकालीन अविद्या, अज्ञान, विषमता, कुचरित्र के कारण जन्ममरण रूपी संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दुःखों का अनुभव करता है क्योंकि जीव स्वस्वरूप से, सत्य स्वरूप से, अमृत स्वरूप से विपरीत, पर स्वरूप में, मिथ्याभाव में नाशवान, भौतिक साधनों में रमण करता है। जीव का स्वाभाविक धर्म सचिदानन्द रूप होने के कारण उस रूप को प्राप्त करना उसका जन्मजात अधिकार है एवं वह उसको प्राप्त करना चाहता है, यह केवल वांछनीय नहीं है परन्तु अनिवार्य एवं विधेय भी है। अतएव प्रत्येक जीव का परमलक्ष्य एवं परम कर्त्तव्य, एवं परम भावना निम्नोक्त प्रकार से है।

“असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्यो मा अमृतंगमय।

हे करुणामय, पतित पावन, भगवन् ! मुझे असत् (मिथ्या) से सत् (सम्यक्) की ओर ले चलो। अज्ञान रूपी मोहान्धकार से ज्ञानरूपी ज्योति की ओर ले चलो। मृत्यु से अमरता (मोक्ष) की ओर ले चलो।

जय जय जय, त्रैलोक्यकाण्ड, शोभि शिखामणे,
नुद नुद नुद, स्वान्तर्धान्तं, जगत्कमलार्कं नः।
नय नय नय, स्वामिन् ! शांतिं, नितान्तमनन्तिमां,
नहि नहि नहि, त्राता लोकैक, मित्र ! भवत्पर ॥12॥

हे भगवान् ! आप तीनों लोकों में अत्यन्त सुशोभित होने वाले शिखामणि के समान हैं। इसलिये आपकी जय हो, जय हो, जय हो। हे प्रभो ! आप

जगतरूपी कमल को प्रकाशित करने के लिये सूर्य के समान हैं। इसलिये मेरे हृदय के मोहांधकार को दूर कीजिये, दूर कीजिये। हे स्वामिन्! कभी न नाश होने वाली अत्यन्त शान्ति दीजिये, दीजिये। हे भव्य जीवों के अद्वितीय मित्र! आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला संसार के दुःखों से बचाने वाला अन्य कोई नहीं है, नहीं है, नहीं है।

सुखेच्छु मुमुक्षु जीव आत्मकल्याण के लिये परम अमृत-स्वरूप दिव्यध्वनि को श्रवण करने के लिये जिस धर्म सभा में जाता है, उस सभा का नाम विश्व धर्म सभा या समवसरण है। उस समवसरण में तीन लोक के गुरु अनन्तज्ञानी, परमहितोपदेशी तीर्थकर भगवान् विराजमान होकर धर्मोपदेश देते हैं। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है:-

आनात्मार्थ विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥४॥

आप भगवान्, चित्तविक्षेप आदि दोषों से रहित, श्रेष्ठ भव्य जीवों को दिव्यध्वनि के द्वारा जो स्वर्गादिक तथा उनके साधन भूत सम्यग्दर्शनादि का उपदेश देते हैं, वह लाभ, पूजा तथा ख्याति आदि की अभिलाषारूप राग के बिना ही देते हैं और उस उपदेश में उनका निजका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। मात्र परोपकार के लिए उनकी उपदेश में प्रवृत्ति होती है। जैसा कि कहा गया है - “परोपकाराय सतां हि चेष्टिम्” अर्थात् परोपकार के लिए ही सत्पुरुषों की चेष्टा होती है। राग तथा निज के प्रयोजन के बिना आप उपदेश कैसे देते हैं? इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए कहते हैं कि शिल्पी के हाथ के स्पर्श से बजाने वाले मनुष्य के हाथ की चोट से शब्द करता हुआ मृदङ्ग क्या कुछ चाहता है? नहीं चाहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मृदङ्ग परोपकार के लिए ही नाना प्रकार के शब्द करता है उसी प्रकार आप भगवान् भी परोपकार के लिए ही शास्त्र-रचना करते हैं। दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश देते हैं।

उपर्युक्त धर्म तीर्थ नायक, जगतगुरु तीर्थकर की परमपदवी को प्राप्त करने के लिए षोडश कारण भावनाओं से भावित हो कर विश्वमैत्री, विश्वप्रेम, विश्वउद्घार भावना से युक्त होकर जीव तीर्थकर नाम कर्म रूपी पुण्य प्रकृति को संचय करना पड़ता है। भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में तो पांचों कल्याणों से युक्त तीर्थकर होते हैं, परन्तु विदेह क्षेत्र में पंचकल्याण या उससे कम कल्याणक से युक्त तीर्थकर भी होते हैं। उनमें जन्मतः कुछ अतिमानवीय गुण एवं शक्तियाँ होती हैं। उपरोक्त विषयों का विशेष वर्णन मैंने (उपाध्याय कनकनंदी) मेरी “क्रांति के अग्रदूत” नामक पुस्तक में किया है। विशेष जिज्ञासु पाठक गण वहां से अवलोकन करें। इस पुस्तक में संदर्भ प्राप्त जन्म के दस अतिशयों का वर्णन निम्न लिखित प्रस्तुत कर रहा हूँ। यथा-

जन्म के दस अतिशय

णिस्सेदत्तं-णिम्मल-गत्तत्तं दुद्ध-धवल-रुहिरत्तं।

आदिम-संहडणत्तं, समचउरस्संग-संठाणं ॥(905)

(ति.पृ.278)

अणुवम-रुवत्तंणव-चंपय-वर सुरहि-गंध-धारित्तं।

अट्टुत्तर-वर-लक्खण-सहस्र-धरणं अणंतबल-विरियं ॥ (906)

मिदु-हिद-मधुरालाओ, साभाविय-अदिसयं च दह-भेदं।

एदं तित्थयराणं जम्मग्नहणादि-उप्पणं ॥ (907)

(1) खेद रहितता, (2) निर्मल-शरीरता, (3) दूध सदृश धवल रुधिर, (4) वज्र्झर्भनाराच-संहनन, (5) समचतुरस्स-शरीर संस्थान, (6) अनुपम रूप, (7) नवीन चम्पक की उत्तम गन्ध सदृश गन्ध का धारण करना, (8) एक हजार आठ उत्तम लक्षणों को धारण करना, (9) अनन्त बल-वीर्य और (10) हितकारी मृदु एवं मधुर भाषण, ये स्वाभाविक अतिशय के दस भेद हैं। ये अतिशय तीर्थकरों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

अतिशय रूप सुगन्ध तन, नाहि पसेव निहार।
 प्रिय हित वचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार॥
 लक्षण सहस रू आठ तन, समचतुष्क संठान।
 वज्रवृषभ नाराच जुत, ये जनमत दस जान॥

(1) अतिशय सुन्दर रूप-

पूर्व भव में भावित उद्घात विश्व-प्रेम से प्रेरित 16 भावनाओं के कारण तीर्थकर भगवान् सर्वोत्कृष्ट सातिशय तीर्थकर पुण्य कर्म का संचय किए थे उसके कारण ही उनके गर्भ के छह महिने पहले से ही रत्नवृष्टि हुई। जन्मावसर पर सम्पूर्ण विश्व, शान्ति रस से प्लावित हो गया। उस पुण्य कर्म से उनका शरीर अद्वितीय 1008 सुलक्षणों से मणिडत, विश्व की अनुपम सुन्दरता सहित था। इनके शरीर के अपूर्व सुन्दरता का कारण बताते हुए मानतुंगाचार्य, भक्तामर स्तोत्र में निम्न प्रकार बताते हैं—

यैः शान्तरागरूचिभिः परमाणुभिरस्त्वम्।
 निर्मापितस्त्रिभुवनैक ललाम भूत् ॥
 तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां।
 यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ 12 ॥
 (भक्तामर स्तोत्र)

इस तीन लोक में जितने शान्त, सुन्दर, रुचिकर, परमोत्कृष्ट, शुभ परमाणु थे, उनके समूह से ही भगवान् के अद्वितीय मनमोहककारी ललामभूत शरीर का निर्माण हुआ। सम्पूर्ण उत्कृष्ट शुभ परमाणुओं से भगवान् के शरीर के समान अन्य सुन्दर शरीर इस विश्व में नहीं है अर्थात् जितने शुभ परमाणु थे उससे भगवान् का शरीर निर्माण होने के कारण बाकी शुभ परमाणु नहीं रहे। जिससे भगवान् के शरीर के तुल्य अन्य शरीर की रचना नहीं हुई अर्थात् भगवान् का शरीर एकमेव विश्व में अद्वितीय सुन्दर शरीर है।

(2) स्वेद रहितता—

शरीर में जो मलांश शरीर के विभिन्न द्वारों से निकलता है जिस समय तरल मलांश रोम कूपों से बाहर निकलता है उसे स्वेद (पसीना) कहते हैं। परन्तु भगवान् का शरीर सातिशय पुण्य परमाणुओं से बना होने के कारण उनके शरीर में मल का ही अभाव होता है। इसीलिये मल के अभाव में पसीना नहीं निकलता है।

(3) निर्मल शरीर—

मल-मूत्र आदि से रहित होने के कारण तीर्थकर भगवान् का शरीर अत्यन्त निर्मल होता है।

(4) दूध के समान धवल रुधिर—

मनुष्य के शरीर में दो प्रकार के रक्त कण होते हैं—(1) लोहित रक्त कण और (2) श्वेत रक्त कण। लोहित रक्त कण शरीर के क्षय अंश को पूरित करता है एवं श्वेत रक्त कण में रोग प्रतिरोधक शक्ति होने के कारण अंग रक्षक के समान शरीर को बाह्य रोगाणु आदि से रक्षा करता है। वैज्ञानिक लोग विशेष करके मनोवैज्ञानिक, डॉक्टरों ने सिद्ध किया है जिनमें श्वेत रक्तकण अधिक होता है उनको रोग नहीं होता यदि होता है तो किंचित् प्रमाण से होता है और शीघ्र ठीक हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि जिनका आहार-विहार, आचार-विचार, शुद्ध-पवित्र सात्त्विक होता है उनमें अधिक श्वेत रक्तकण पाया जाता है और वे व्यक्ति अधिक रोग ग्रस्त नहीं पाये जाते। जिस-जिस अंश में विशुद्ध आचार-विचार, परिणाम वृद्धि होते जाते हैं, उस-उस अंश में श्वेत रक्तकण वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार तीर्थकर सतत् विशुद्ध से विशुद्धतर तथा विशुद्धतम् सात्त्विक आचार-विचार में तल्लीन रहते हैं, इसलिये उनके सम्पूर्ण शरीर के रक्तकण दूध के सदृश श्वेत रक्त कण बन जाते हैं तो उसमें कोई आश्चर्य

की बात नहीं है।

एक कन्या ऋतुमति तथा विवाहित होने तक जब तक सन्तान उत्पन्न नहीं होती है, तब तक स्तन में दूध संचार नहीं करता है। परन्तु सन्तान उत्पन्न होते ही स्तनों में दूध रस संचार करने लगता है। क्या इसका मनोवैज्ञानिक रहस्य है? जब तक सन्तान उत्पन्न नहीं होती है तब तक नारी के हृदय में वात्सल्य प्रेम का संचार नहीं होता है। तब तक नारी सामान्य स्त्री रहती है परन्तु माता नहीं। जब सन्तान उत्पन्न होती है तब नारी के हृदय में पवित्र वात्सल्य-प्रेम की मंदाकिनी धारा बहने लगती है, तब सामान्य स्त्री प्रेम-दायिनी, वात्सल्य की साक्षात् जीवन मूर्ति, ममतामयी माँ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। उपरोक्त पवित्र, उदात्त सेवा मनोभावों से उसके शरीर में एक प्रकार सूक्ष्म जैविक-रासायनिक प्रतिक्रिया होती है। उससे आहार का रस-भाव अमृतमय जीवन शक्तिपूर्ण दूध रूप में परिवर्तित होता है। इसलिये सन्तानोत्पत्ति होते ही नारियों के स्तनों में दूध की धारा बहने लगती है। जब एक साधारण स्त्री को अपने सन्तान के प्रेम वात्सल्य से प्लावित होने के कारण उसके शरीर में दूध का संचार हो सकता है तब जगत् के एकेक अकारण बन्धु विश्व प्रेम- मैत्री के जीवन-मूर्ति तीर्थकर के सम्पूर्ण शरीर में दुग्ध समान धवल रक्धारा का संचार होना अर्थात् दुग्ध के समान धवल रूधिर होना कोई अनहोनी, कपोल-कल्पित, अतिशयोक्ति नहीं है। उपरोक्त कारणों से सिद्ध होता है कि तीर्थकरों के रूधिर दुग्ध के समान धवल थे।

(5) आदि का वज्रवृष्टभनाराच संहनन-

तीर्थकर की अस्थि, अस्थि कीलक, अस्थिवेष्टन वज्रमय होता है।

(6) अनंत बल-वीर्य-

“जो कम्मे सुरा सो धम्मे सुरा” अर्थात् जो कर्म में शूर वीर्यमान होता है वह धर्म में भी शूर वीर्यमान होता है। प्रत्येक कार्य करने के लिये शक्ति की नितान्त आवश्यकता है। उपनिषद् में कहा है- “नहि बलहीनेन अयं

आत्मा उपलब्धये”। बलहीनों के द्वारा अर्थात् हीनवीर्य के द्वारा आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती है। आत्मा का उद्धार करने वाले तथा जगत् का उद्धार करने वाले तीर्थकर को उन्नत बल वीर्य की नितान्त आवश्यकता ही नहीं अनिवार्य भी है। इसीलिये तीर्थकर जन्म से ही उन्नत बलवीर्यवान होते हैं।

(7) समचतुरस्पर्शरूप संरथान-

भगवान् के शरीर का संगठन, स्थान, प्रमाण एवं आकार-प्रकार की अपेक्षा अत्यन्त सुन्दर समचतुरस्पर्श संस्थान वाला था।

(8) 1008 उत्तम लक्षणों का धारण करना-

भगवान् का शरीर अनुपम सौन्दर्य का केन्द्र था। उनके शरीर में (1) श्री वृक्ष, (2)शंख, (3)कमल, (4)स्वस्तिक, (5)अकुंश, (6)तोरण (7)चमर (8)श्वेत छत्र (9)सिंहासन (10)ध्वज (11)मीन युगल (12)दो कुम्भ (13)चक्र (14)समुद्र (15)सरोवर (16)नागेन्द्र-भवन (17)हाथी, (18)सिंह आदि 108 मुख्य लक्षण तथा 900 व्यञ्जन अर्थात् सामान्य लक्षण सब मिलाकर 1008 सुलक्षण से युक्त था।

(9) सौरभ-

सर्वोत्कृष्ट पुण्य परमाणुओं से उनका शरीर निर्माण होने के कारण उनके शरीर से नृप चम्पक के समान उत्तम गन्ध आती थी।

(10) हित-मित-प्रिय वचन-

महापुरुषों का हृदय अत्यन्त मृदु होने से एवं उनके हृदय में “सर्व जनहिताय सर्व जन सुखाय” की भावना ओत-प्रोत होने से उस हृदय से निसृत (निकला हुआ) वचन भी हित-मित-प्रिय होता है।

धर्म की पूर्णता के लिये तपस्या

भावी तीर्थश सत्य की पूर्ण उपलब्धि के लिये आत्म पतन के कारण

स्वरूप सांसारिक मोह-माया, भोगों को त्याग करके पूर्ण बालकवत् दिगम्बर वेष को धारण करके मौन पूर्वक आत्मसाधना में लीन रहते हैं। वे समता एवं शान्ति की साधना के बल पर समस्त आध्यात्मिक बंधन स्वरूप कर्मों को नष्ट करने के लिये कठिबद्ध होते हैं इसे ही आध्यात्मिक साधना काल या तपस्या कहते हैं।

केवल ज्ञान कल्याणक (केवल बोध-लाभ)-

कठोर आत्म साधना से जब आत्म शुद्धि की वृद्धि होते-होते शुक्ल ध्यान निर्मल धूम्रहित प्रखर अग्नि समान शुक्ल ध्यान अन्तरंग में प्रज्ज्वलित हो उठता है तब आत्म विशुद्धि के आध्यात्मिक सोपान स्वरूप क्षपक श्रेणी आरोहण करते करते जब अन्तरंग मल स्वरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों को भस्म कर डालते हैं तब आत्म विशुद्धि एवं उत्थान गुण स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य को प्राप्त करके पूर्ण तीर्थकर अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्था को जैनागम में तेरहवाँ गुण-स्थान सयोग केवली, जीवन-युक्त, परमात्मा, अर्हत् आदि नाम से अभिहित हुआ है। बौद्ध धर्म में इस अवस्था को बोधिसत्त्व, बुद्धत्व, आर्हत् तीर्थकर आदि कहते हैं। हिन्दु धर्म में जीवन-युक्त, परमात्मा, सशरीर परमात्मा आदि नाम से पुकारते हैं।

अर्हत् अवस्था में पृथ्वी से 5000 धनुष अधर में रहना-

जादे केवलणाणे परमोरालं जिणाण सव्वाणं।

गच्छदि उवरि चावा, पचंसहस्राणि वसुहादो ।(713)।

(तिलोय पण्णति)-द्वि. भा. पृ.201

केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर समस्त तीर्थकरों का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से 5000 धनुष प्रमाण पृथ्वी तल से उपर चला जाता है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि केवल ज्ञान के अनन्तर तीर्थकर के

शरीर 5000 धनुष (20,000 हाथ) ऊपर स्वयमेव किस कारण से चला जाता है ?

संसारी जीव तीन प्रकार कर्म के समुदाय स्वरूप हैं-

(1)द्रव्य कर्म, (2)नोकर्म, (3)भावकर्म। ज्ञानावरणादि 8 कर्म द्रव्य कर्म हैं। (1)औदारिक, (2)वैक्रियक, (3)आहारक, (4)तैजस, (5)कार्मण, शरीर नोकर्म स्वरूप हैं। राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि भाव कर्म हैं।

कर्म पुद्गल से निर्मित है। पुद्गल में गुरुत्व नाम का एक गुण है अर्थात् पुद्गल में भारीपन है। कर्म पुनः दो भाग से विभाजित है- (1) पुण्य स्वरूप (2) पाप स्वरूप। पाप कर्म अशुद्ध विचारधारा से जीव के साथ संश्लेष बंध होने के कारण पाप कर्म वजनदार है। पुण्य कर्म विशुद्धि भाव से जीव के साथ संश्लेष बंध होने के कारण हल्का है। जब तीर्थकर भगवान् ध्यानाग्नि से पाप कर्म स्वरूप ज्ञानावरणादि स्वरूप 4 घाति कर्म को भस्म कर डालते हैं तब अनन्तानन्त परमाणु के पिण्ड स्वरूप पाप कर्म शरीर से पृथक् हो जाते हैं। वजनदार अनन्तानन्त पाप परमाणुओं का शरीर से पृथकीकरण होने के कारण तीर्थकर का शरीर पूर्वपेक्षा कम वजनी हो जाता है जिससे शरीर पृथ्वी से 5000 धनुष स्वयमेव ऊपर उठ जाता है। जिस प्रकार हाइड्रोजन गैस से भरित बैलून को छोड़ देने से वह बैलून स्वयमेव ऊपर उठ जाता है। केवल ज्ञान के बाद पुनः पापकर्म का बंध नहीं होता है उसके कारण पुनः कभी भी अर्हन्त भगवान् (तीर्थकर) भू पृष्ठ पर नहीं आते हैं।

केवल ज्ञान के ग्यारह अतिशय-

जोयण-सद-मज्जादं, सुभिक्खदा चउ-दिसासु णिय-ठाणा ।

णह्यल - गमणमहिसा, भोयण - उवसग - परिहीणा ।(908)।

सव्वाहि - मुह - द्वियत्तं, अच्छायत्तं अपग्मंदित्तं ।

विज्जाणं ईसत्तं, सम - णह - रोमत्तं सरीरम्मि ।(909)।

अद्वरस-महाभासा, खुल्लय - भासा सयाइ सत्त तहा ।
 अक्खर - अणकखरप्पय सण्णी - जीवाण सयल - भासाओ ॥(910)।
 एदासि भासाणं, तालुव-दंतोडु-कंठ वावरे ।
 परिहरिय एक-कालं, भव्व-जणे दिव्व-भासित्तं ॥(911)
 पगदीए अक्खलिदो, संझत्तिदयम्मि णव-मुहृत्ताणि ।
 णिस्सरदि णिरुवमाणो, दिव्वझुणी जाव जोयणयं ॥(912)
 अवसेस-काल-समए, गणहरे-देविंद-चक्कवट्टीणं ।
 पण्हाणुरुवमत्थं, दिव्वझुणी सत्त-भंगीहिं ॥(913)
 छद्व्व-णव-पयत्थे, पंचट्टीकाय-सत्त-तच्चाणि ।
 णाणाविह-हेदृहिं, दिव्वझुणी भणइ भव्वाण ॥(914)
 घादिक्खएण जादा, एकारस अदिसया महच्छरिया ।
 एदे तित्थयराणं, केवलणाणम्मि उप्पणे ॥(915)

अपने स्थान से चारों दिशाओं में (1) एक सौ योजन पर्यन्त सुभिक्षता, (2) आकाश-गमन, (3) अहिंसा (हिंसा का अभाव), (4) भोजन एवं, (5) उपसर्ग का अभाव, (6) सब की ओर मुख करके स्थित होना, (7) छाया नहीं पड़ना, (8) निर्निमेष दृष्टि, (9) विद्याओं की ईशता, (10) शरीर में नखों एवं बालों का न बढ़ना (11) अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र-भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषायें हैं उनमें तालु, दाँत; ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय (एक साथ) भव्य जनों को दिव्य उपदेश देना ।

भगवान् जिनेन्द्र की स्वभावतः अस्खलित तथा अनुपम दिव्य-ध्वनि तीनों सन्ध्या-कालों में नव-मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, इन्द्र एवं चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्य-ध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों को छह-द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का

निरूपण नानाप्रकार के हेतुओं द्वारा करती है। इस प्रकार धातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए, महान् आश्चर्य-जनक से ग्यारह अतिशय तीर्थकरों को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर प्रगट होते हैं।

(1) 400 कोश भूमि में सुभिक्षता:-

जिस प्रकार सूर्य उदय होने पर सूर्य के प्रभाव से प्रभावित होकर अनेक क्षेत्र प्रकाशित हो जाता है, कमल खिलने लगते हैं, उसी प्रकार केवल ज्ञान होने के पश्चात् तीर्थकर भगवान् जिस क्षेत्र में रहते हैं उनको केन्द्रित करके 400 कोश अर्थात् 800 मील क्षेत्रफल प्रमाण भूमि में सुभिक्ष हो जाता है। तीर्थकर भगवान् दया, करुणा, विश्वप्रेम की साक्षात् मूर्ति होते हैं। दयादि भावों से तीर्थकर के समीपवर्ती क्षेत्र तथा परिसर भी प्रवाहित हो जाता है उसके कारण सब जीव सुखी, सन्तुष्ट, धन-धान्य सम्पन्न तथा निरोगी होते हैं। प्रकृति के प्रभावित होने के कारण योग्य काल में उत्तम वृष्टि होती है जिससे वनस्पतियां पल्लवित होकर यथेष्ट फल-पुष्प देती हैं जिससे पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाती है। जिस प्रकार समुद्र तट में समशीतोष्ण जलवायु रहती है हिमालय के कारण हिमालय पर्वत का निकटस्थ क्षेत्र शीतल होता है उसी प्रकार धर्मात्मा जीवों के कारण निकटस्थ क्षेत्र भी पवित्र अहिंसामय सुभिक्ष हो जाता है। परिशेष न्यायानुसार दुष्ट, दुर्जन, पापी जीवों के कारण निकटस्थ क्षेत्र का परिसर भी दूषित पीड़ित हो जाता है।

(2) गगन-गमन:-

पूर्व में वर्णन किया गया है कि केवल ज्ञान होने के पश्चात् भगवान् भूपृष्ठ से 5000 धनुष ऊपर चले जाते हैं। पुण्य कर्म के प्रभाव से एवं उत्कृष्ट योग (ध्यान) शक्ति से भगवान् आकाश में ही बिना किसी के अवलम्बन के आकाश में गमन करते हैं। पूर्व में वर्णन किया गया है कि एक सामान्य योगी चारण ऋद्धि मुनि, आकाश गामी विद्याधर भी यदि आकाश में गमन करते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य हैं।

(3) अप्राणीवध (अहिंसा):-

“अहिंसा प्रधानात् तत्सन्निधौ वैरीत्यागः” जो अहिंसा को पूर्ण रूप से अपने जीवन में उतार लेते हैं उनके सान्निध्य को प्राप्त करके हिंसात्मक जीव भी हिंसा भाव का त्याग कर देते हैं। तीर्थकर भगवान् पूर्ण अहिंसा, दया, करुणा की जीवन्त मूर्ति स्वरूप होते हैं। इसलिए उनके चरण-समीप में आने वाले कूर से कूर जीव भी अपनी कूरता छोड़कर अहिंसा धारा से प्लावित होकर स्वयं अहिंसामय बन जाते हैं इसलिए उनके समवसरण में जन्मजात परस्पर कूर सिंह, गाय, बिल्ली, चूहा, मोर, सर्प आदि एक साथ मित्रभाव से बैठकर भगवान् का दिव्य संदेश सुनते हैं।

(4) कवलाहार अभाव:-

केवली भगवान् के कवलाहार (ग्रास रूप आहार) का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका है कि स्थूल भोजन द्वारा उसके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो गया है। अब शरीर रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

(5) उपसर्गाभाव (बाधाओं का अभाव):-

भगवान् के धातिया कर्मों का क्षय होने से उपसर्ग का बीज बोने वाला असातावेदनीय कर्म शक्ति शून्य बन जाता है। इसलिए केवलज्ञान की अवस्था में भगवान् पर किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता। यह ध्यान देने योग्य बात है, कि जब प्रभु की शरण में आने वाला जीव यम के प्रचण्ड प्रहार से बच जाता है, तब उन जिनेन्द्र पर दुष्ट व्यन्तर, कूर मनुष्य अथवा हिंसक पशुओं द्वारा संकट का पहाड़ पटका जाना नितान्त असम्भव है, जो लोग भगवान् पर उपसर्ग होना मानते हैं वे वस्तुतः उनके केवल ज्ञानी होने की अलौकिकता को बिल्कुल भुला देते हैं।

(6) चतुर्मुख (चारों तरफ प्रभु के मुख का दर्शन होना):-

समवसरण में भगवान् का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रहता है किन्तु उनके चारों ओर बैठने वाले 12 सभाओं को जीवों को ऐसा भान (दिखता) होता है कि भगवान् के मुख चारों दिशाओं में ही हैं। अन्य सम्प्रदाय में जो ब्रह्मदेव को चतुरानन कहने की पौराणिक मान्यता है उसका वास्तव में मूल बीज परम ब्रह्म रूप सर्वत्र जिनेन्द्र के आत्मतेज के द्वारा समवसरण में चारों दिशाओं में पृथक्-पृथक् रूप से प्रभु के मुख का दर्शन होता है।

(7) सर्व विद्येश्वरता:-

केवलज्ञानावरण कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने से भगवान् सर्व विद्या के ईश्वर हो जाते हैं क्योंकि वे सर्व पदार्थों को ग्रहण करने वाली कैवल्य ज्योति से समालंकृत हैं। द्वादशांग रूप विद्या को आचार्य प्रभाचन्द्र ने सर्व विद्या शब्द के द्वारा ग्रहण किया है। उस विद्या के मूल जनक ये जिनराज प्रसिद्ध हैं।

‘‘सर्वविद्येश्वरता सर्वविद्या द्वादशांग-चतुर्दश पूर्वाणि तासांस्वामित्वं।
यदि वा सर्व विद्या केवलज्ञानं तस्या ईश्वरता स्वामिता ॥’’क्रिया- कलाप,
पृष्ठ 247, नंदीश्वर भक्ति

(8) अद्वायत्व (शरीर की छाया नहीं पड़ना):-

जिस प्रकार पत्थर, बालू आदि से उसकी प्रतिबिम्ब छाया रूप पड़ती है किन्तु जब पत्थर, बालू को रिफाइंड किया जाता है अर्थात् काँच रूप या स्फटिक रूप होने के पश्चात् उसमें प्रतिबिम्ब रूप छाया नहीं पड़ती। उसी प्रकार औदारिक शरीर सहित जीव कल्मष (पाप) से सहित होने पर औदारिक शरीर की प्रतिबिम्ब रूप छाया पड़ती है किन्तु भगवान् कर्म से रहित होने अर्थात् कल्मष से रहित हो जाने से जिस प्रकार काँच का प्रतिबिम्ब रूप छाया नहीं पड़ती है उसी प्रकार परमौदारिक शरीर से भी प्रतिबिम्ब रूप छाया नहीं पड़ती है। श्रेष्ठ तपश्चर्या रूप अग्नि में भगवान् का शरीर

तम हो चुका है। केवली बनने पर उनका शरीर निगोदि जीवों से रहित हो गया है। वह स्फटिक सदृश बन गया है, मानो शरीर भी आत्मा की निर्मलता का अनुकरण कर रहा है। इससे भगवान् के शरीर की छाया नहीं पड़ती है। राजवार्तिक में प्रकाश को आवरण करने वाली छाया है 'छाया प्रकाशवरणनिमित्ता' (पृ.194) यह लिखा है। भगवान् का शरीर प्रकाश का आवरण न कर स्वयं प्रकाश प्रदान करता है सामान्य मानव का शरीर नहीं है। जिस शरीर के भीतर सर्वत्र सूर्य विद्यामान है वह शरीर तो प्राची (पूर्व) दिशा के समान प्रभात में स्वयं प्रकाश परिपूर्ण दिखेगा। इस कारण भगवान् के शरीर की छाया न पड़ना, उनके कर्मों की छाया से विमुक्त निर्मल आत्मा के पूर्णतया अनुकूल प्रतीत होता है।

(9) अपक्षमस्पन्दत्व (अपलक नयन):-

शरीर में शक्ति हीनता के कारण नेत्र पदार्थों को देखते हुए क्षण भर विश्रामार्थ पलक बन्द कर लिया करते हैं। अब वीर्यान्तराय कर्म का पूर्ण क्षय हो जाने से ये जिनेन्द्र अनन्तवीर्य के स्वामी बन गये हैं, इस कारण इनके पलकों में निर्बलता के होने वाला बन्द होना, खोलना रूप कार्य नहीं पाया जाता है। दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से निद्रादि विकारों का अभाव हो गया है। अतः सरागी सम्प्रदाय के आराध्य देवों के समान इन जिनदेव को निद्रा लेने के लिए भी नेत्रों के पलकों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि "जगत् के जीव अपनी जीविका काम, सुख तथा तृष्णा के वशीभूत हो दिन भर परिश्रम से थककर रात्रि को नींद लेते हैं, किन्तु जिनेन्द्र भगवान् सदा प्रमाद रहित होकर विशुद्ध आत्मा के क्षेत्र में जागृत रहते हैं। इस कथन के प्रकाश में भगवान् के नेत्रों के पलकों का न लगना उनकी श्रेष्ठ स्थिति के प्रतिकूल नहीं है।

(10) सम प्रमाण नख केशत्व (नख और केशों का नहीं बढ़ना):-

भगवान् के नख और केश वृद्धि तथा हास शून्य होकर समान रूप

में ही रहते हैं। प्रभाचन्द्राचार्य ने टीका में लिखा है "समत्वेन वृद्धिं हासदीनतया प्रसिद्धा नखाश्च केशाश्च यस्य देहस्य तस्य भावस्त्वं" (पृ.257) भगवान् का शरीर जन्म से ही असाधारणता का पुंज रहा है। आहार करते हुए भी उनके निहार का अभाव था। केवली होने पर कवलाहार रूप स्थूल भोजन ग्रहण करना बन्द हो गया। अब उनके परम पुण्यमय देह में ऐसे परमाणु नहीं पाए जाते हैं जो नख और केशरूप अवस्था को प्राप्त करें। शरीर में मलरूपता धारण करने वाले परमाणुओं का अब आगमन हीं नहीं होता है। इस कारण नख और केश न बढ़ते हैं और न घटते ही हैं।

चौबीसों तीर्थझुरों के केवलज्ञान की तिथि

समय, नक्षत्र और स्थान का निर्देश —

फगुण - किण्हेयारसि - पुत्राण्हे पुरिमताल - णयरस्मि।
उत्तरसाढे उसहे, उप्पण्णं केवलं णाणं ॥

(686) ति.प.

कृष्णभनाथ को फाल्गुन-कृष्णा एकादशी के पूर्वाह्न में उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के उदित रहते पुरिमताल नगर में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

पुस्सरस्स सुक्फ-चोद्दसि-अवरण्हे रोहिणिस्मि णक्खत्ते ।

अजिय-जिणे उप्पण्णं, अणंतणाणं सहेदुगम्मि वणे ॥(687)

अजित जिनेन्द्र को पौष-शुक्ला-चतुर्दशी के अपराह्न में रोहिणी नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

कत्तिय-सुक्के पंचमि - अवरण्हे मिगसिरस्मि रिक्खम्भि ।

संभव-जिणरस्स जादं, केवलणाणं खु तम्मि वणे ॥(688)

सम्भवनाथ जिनेन्द्र को कार्तिक शुक्ला पंचमी के अपराह्न में मृगशिर नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

पुरस्सस पुणिमाए, रिक्खमि पुणवसुभ्मि अवरण्हे।
उग्र-वणे अभिन्दण-जिणर्य संजाद-सव्वगयं ॥(689)

अभिनन्दन जिनेन्द्र को पौष (शुक्ला) पूर्णिमा के अपराह्न में पुनर्वसु नक्षत्र के रहते उग्र-वन में सर्वगत (केवलज्ञान) उत्पन्न हुआ।

वइसाह-सुक्क-दसमी, मघाए रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।
अवरण्हे उप्पण्ण, सुभइ-जिणे केवल णाणं ॥(690)

सुमति जिनेन्द्र को वैशाख-शुक्ला दशमी के अपराह्न में मघा नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

वइसाह-सुक्क-दसमी, चेत्ता-रिक्खे मणोहरुज्जाणे।
अवरण्हे उप्पण्ण, पउमप्पह-जिणवरिदस्स ॥(691)

पद्मप्रभु जिनेन्द्र को वैशाख-शुक्ला दशमी के अपराह्न में चित्रा नक्षत्र के रहते मनोहर उद्यान में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

फग्गुण-कसिणे सत्तमि, विसाह-रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।
अवरण्हे असवत्तं, सुपास-णाहस्स संजाद ॥(692)

सुपाश्वर्नाथ को फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के अपराह्न में विशाखा नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में असपत्न (केवलज्ञान) उत्पन्न हुआ था।

तद्विवरे अणुराहे, सव्वत्थ-वणे दिणस्स पच्छमए।
चंदप्पह-जिण-णाहे, संजाद सव्वभाव-गदं ॥(693)

चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र को उसी दिन (फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को) दिन के पश्चिम भाग (अपराह्न) में अनुराधा नक्षत्र के रहते सर्वार्थ वन में सम्पूर्ण पदार्थों को अवगत करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

कत्तिय-सुक्के तदिए, अवरण्हे मूल-भे य पुण्कवणे।
सुविहि-जिणे उप्पण्ण, तिहुवण-संखोभयं णाणं ॥(694)

सुविधि जिनेन्द्र को कार्तिक शुक्ला तृतीया के अपराह्न में मूल नक्षत्र के रहते

पुण्य वन में तीनों लोकों को आश्वर्यान्वित करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

पुरस्सस किण्ह-चोद्दसि-पुव्वासाढे दिणस्स पच्छमए।
सीयल-जिणर्स जादं, अणंतणाणं सहेदुगम्मि वणे ॥(695)

शीतलनाथ तीर्थङ्कर को पौष-कृष्णा चतुर्दशी को दिन के पश्चिम भाग में पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में अनन्तज्ञान उत्पन्न हुआ।

माघस्स य अमवासे, पुव्वण्हे सवणभम्मि सेयंसे।
जादं केवलणाणं, सुविसाल-मणोहरुज्जाणे ॥(696)

श्रेयांस जिनेन्द्र को माघ की अमावस्या के दिन पूर्वाह्न में श्रवण नक्षत्र के रहते मनोहर उद्यान में केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

माघस्स पुणिमाए, विसाह-रिक्खे मणोहरुज्जाणे।
अवरण्हे संजादं, केवलणाणं खु वासुपूज्ज-जिणे ॥(697)

वासुपूज्य जिनेन्द्र को माघ (शुक्ला) पूर्णिमा के अपराह्न में विशाखा नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में अनन्तज्ञान उत्पन्न हुआ।

पुरसे सिद-दसमीए, अवरण्हे तह य उत्तरासाढे।
विमल-जिणिंदे जादं, अणंतणाणं सहेदुगम्मि वणे ॥(698)

विमल जिनेन्द्र को पौष-शुक्ला दशमी के अपराह्न में उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में अनन्तज्ञान उत्पन्न हुआ।

चेत्तस्स य अमवासे, रेवदि-रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।
अवरण्हे संजादं, केवलणाणं अणंत जिणे ॥(699)

अनन्त जिनेन्द्र को चैत्रमास की अमावस्या के अपराह्न में रेवती नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

पुरस्सस पुणिमाए, पुरसे रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।
अवरण्हे संजादं, धर्म-जिणिंदस्स सव्वगदं ॥(700)

धर्मनाथ जिनेन्द्र को पौषमास की पूर्णिमा के दिन अपराह्न में पुष्प नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में सर्व पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

पुस्ते सुककेयारसि-भरणी-रिक्खे दिणस्स पच्छिमए।

चूद-वणे संजादं, संति-जिणेसस्स केवलं णाणं ॥(701)

शान्ति जिनेश को पौष शुक्ला एकादशी के दिन, दिवस के पश्चिम भाग में भरणी नक्षत्र के रहते आम्रवन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

चेत्तस्स सुक्क-तदिए, कित्तिय-रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।

अवरण्हे उप्पण्णं, कुंथु जिणेसस्स केवलं णाणं ॥(702)

कुन्थु जिनेन्द्र को चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन अपराह्न में कृतिका नक्षत्र के उदय रहते सहेतुक वन में केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।

कत्तिय-सुक्के बारसि-रेवदि-रिक्खे सहेदुगम्मि वणे।

अवरण्हे उप्पण्णं, केवलणाणं अर-जिणस्स ॥(703)

अरहनाथ जिनेन्द्र को कार्तिक-शुक्ला द्वादशी के अपराह्न में रेवती नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

फगुण-किण्हे बारसि, अस्सिणि-रिक्खे मणोहरुज्जाणे।

अवरण्हे मल्लि-जिणे, केवलणाणं समुप्पण्णं ॥(704)

मल्लिनाथ जिनेन्द्र को फाल्नुन कृष्णा द्वादशी के अपराह्न में अश्विनी नक्षत्र के रहते मनोहर उद्यान में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

फगुण-किण्हे छट्टी-पुव्वण्हे सवण-भेय णील-वणे।

मुणिसुव्ययस्स जादं, असहाय-परक्कमं णाणं ॥(705)

मुनिसुव्रत जिनेश को फाल्नुन कृष्णा षष्ठी के पूर्वाह्न में श्रवण नक्षत्र के रहते नील वन में असहाय-पराक्रमरूप केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

चेत्तस्स सुक्क-तदिए, अस्सिणि-रिक्खे दिणस्स पच्छिमए।

चित्त-वणे संजादं, अणंत-णाणं णमि-जिणस्स ॥(706)

नेमिनाथ जिनेन्द्र को चैत्र शुक्ला तृतीया को दिन के पश्चिम भाग में अश्विनी नक्षत्र के रहते चित्रवन में अनन्तज्ञान उत्पन्न हुआ।

अस्सउज-सुक्क-पडिवदि-पुव्वण्हे उज्जयंत-गिरि-सि हरे।

चित्ते रिक्खे जादं, णेमिस्स य केवलं णाणं ॥(707)

नेमिनाथ को आसोज शुक्ला प्रतिपदा के पूर्वाह्न में चित्रा नक्षत्र के रहते उर्जयन्तगिरी के शिखर पर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

चित्ते बहुल-चउत्थी-विसाह-रिक्खम्मि पासणाहस्स।

सक्कपुरे पुव्वण्हे, केवलणाणं समुप्पण्णं ॥(708)

पार्श्वनाथ को चैत्र कृष्णा चतुर्थी के पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र के रहते शकपुर में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

वइसाह-सुक्क दशभी, हत्ते रिक्खम्मि वीर-णाहस्स।

रिजुकूल-णदी-तीरे, अवरण्हे केवलं णाणं ॥(709)

वीरनाथ जिनेन्द्र को वैशाख शुक्ला दसमी के अपराह्न में हस्त नक्षत्र के रहते कृजुकूला नदी के किनारे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

ऋषभादि तीर्थकरों का केवली काल

पुव्वाणमेकक-लक्खं, वासाणं ऊणिदं सहस्रेण।

उसह-जिणिंदे कहिदं, केवलि-कालस्स परिमाणं ॥(952)

ऋषभ जिनेन्द्र के केवली काल का प्रमाण एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व कहा गया है।

यथा-उसह पू. 1 ल, रिण - वास 1000

वारस-वच्छर-समहिय-पुव्वंग-विहीण-पुव्व-इगि-लक्खं।

केवलिकाल-पमाणं, अजिय-जिणिंदे मुणेयव्वं ॥(953)

अजित जिनेन्द्र के केवलीकाल का प्रमाण बारह वर्ष और एक पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व जानना चाहिए।

यथा-अजिय पू. 1 ल, रिण - पूर्वाङ्ग 1 व 12

चोद्दस-वच्छर-समहिय-चउ-पुव्वंगोण-पुव्व-इगि-लक्खं।

संभव-जिणस्स भणिदं, केवलिकालस्स परिमाणं ॥(954)

सम्भव जिनेन्द्र का केवलीकाल चौदह वर्ष, चार पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व

प्रमाण कहा गया है।

यथा - संभव पू. 1 ल, रिण = पूर्वांग 4 - 14 वस्स

अद्वारस-वासाहिय-अड-पुव्वंगोण-पुव्व-इगि-लक्खं।

केवलिकाल--पमाणं, पंदणणाहम्मि णिद्विं ॥(955)

अभिनन्दन जिनेन्द्रका केवलीकाल अठारह वर्ष और 8 पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है।

यथा-पंदण पू. 1 ल, रिण = पूर्वांग 8 - वस्स 18

वीसदि-चउर-समहिय-वारस-पुव्वंग-हीण-पुव्वाणं।

एकं लक्खं होदि हु, केवलिकालं सुमझणाहम्मि ॥(956)

सुमति जिनेन्द्र का केवलीकाल बीस वर्ष और 12 पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व प्रमाण है।

यथा-सुमझ पू. 1 ल - रिण = पुव्वंग 12 - वास 20

विगुणिय-तिमास-समहिय-सोलस-पुव्वंग हीण-पुव्वाणं।

इगि-लक्ख पउमणाहे, केवलिकालस्स परिमाणं ॥(957)

पद्म जिनेन्द्रका केवलीकाल 6 मास और सोलह पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व प्रमाण है।

यथा-पउम पू. 1 ल, रिण = पुव्वंग 16 - मा 6

णव-संवच्छर-समहिय-वीसदि-पुव्वंग-हीण-पुव्वाणं।

एकं लक्खं केवलिकाल - पमाणं सुपास-जिणे ॥(958)

सुपाश्वर्ज जिनेन्द्रका केवलीकाल नौ वर्ष और बीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व प्रमाण है।

यथा-सुपास पू. 1 ल, रिण = पुव्वंग 20 - वास 9

मास-तिदयाहिय-चउवीसदि-पुव्वंग-रहिद-पुव्वाणं।

इगि-लक्खं चंदप्पह-केवलिकालस्स संखाणं ॥(959)

चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के केवलीकाल की संख्या तीन मास और चौबीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व है।

यथा-चंदपह पू. 1 ल, रिण = पूर्वांग 24 - मास 3

चउ-चउर-समहिय-अडवीसदि-पुव्वंग-रहिद पुव्वाणं।

एकं लक्खं केवलिकाल-पमाणं च पुष्पदंत-जिणे ॥(960)

पुष्पदन्त जिनेन्द्र का केवलीकाल चार वर्ष और अद्वाईस-पूर्वाङ्गकम एक लाख पूर्व प्रमाण है।

यथा-पुष्प पू. 1 ल, रिण = पूर्वांग 28 - वास 4

संवरसर-तिद-ऊणिय-पणवीस-सहस्रस्याणि पुव्वाणिं।

सीयलजिणम्मि कहिदं-केवलिकालस्स परिमाणं ॥(961)

शीतल जिनेन्द्र के केवलीकालका प्रमाण तीन वर्ष कम पच्चीस हजार पूर्व कहा गया है।

यथा-सीयल पुव्व. 25000, रिण = वास 3

इगिवीस-वस्स-लक्खा, दोहि विहीणा पहुम्मि सेयंसे चउवण्ण-वास-लक्खं, ऊणं एककेण वासुपूज्जजिणे ॥(962)

श्रेयांस जिनेन्द्र का केवलीकाल दो (वर्ष) कम इक्कीस लाख वर्ष और वासुपूज्य जिनेन्द्र का एक कम चौबन लाख वर्ष प्रमाण है।

यथा - सेयंस वस्स 2099998, वासुपूज्य वस्स 5399999

पण्णरस-वास-लक्खा, तिदय-विहीणा य विमलणाहम्मि सय-कदि-हय-पण्णत्तरि-वासा दो विरहिदा अणंतजिणे ॥(963)

विमल जिनेन्द्र का केवलीकाल तीन कम पन्द्रह लाख वर्ष और अनन्तनाथ जिनेन्द्र का सौ के वर्ग से गुणित पचहत्तर में से दो कम है।

यथा-विमल वस्स 2499997, अणंत वास 749998

पंच - सयाणं वग्गो, ऊणो एककेण धम्मणाहम्मि

दस-घण-हद-पणुवीसा, सोलस-हीणा य संतीसे ॥(964)

धर्मनाथ जिनेन्द्र का केवलीकाल पाँच सौ के वर्ग में से एक कम और शान्तिनाथ जिनेन्द्र का दस के घनसे गुणित पच्चीस में से सौलह वर्ष कम है।

यथा-धम्म वस्स 249999, संति 24984

चौतीसाहिय-सग-सय, तेवीस-सहस्रायणि कुंथुम्मि
चउसीदी-जुद-णव-सय वीस सहस्रा अरम्भि वासाणि ।(965)

कुन्थुनाथ जिनेन्द्र का केवलीकाल तेर्झस हजार सात सौ चौतीस वर्ष और अरहनाथ जिनेन्द्र का बीस हजार नौ सौ चौरासी वर्ष प्रमाण है।

यथा-कुंथु 23734 अर. 20984

णव-णउदि-अहिय-अड-सय चउवण्ण-सहस्रायणि वासाणि

एककरसं चिय मासा, चउवीस दिणाइ मत्तिम्मि ।(966)

मलिनाथ जिनेन्द्र का केवलीकाल चौबन हजार आठ सौ निन्यानवै वर्ष, यारह मास और चौबीस दिन प्रमाण है।

यथा-मत्ति वास 54899 मा 11 दि 24

णवणउदि-अहिय-चउ-सय-सत्त-सहस्रायणि वस्सराणि पि

इगि-मासो सुव्वदए, केवलिकालस्स परिमाणि ।(967)

मुनिसुब्रत जिनेन्द्र का केवलीकाल सात हजार चारसौ निन्यानवै वर्ष और एक मास प्रमाण है।

यथा - सुव्वद वा. 7499 मा 1

वासाणि दो सहस्रा, चत्तारि सयाणि णमिम्मि इगिणउदी

एककोणा सत्त-सया, दस मासा चउ-दिणाणि णेमिस्स ।(968)

नमिनाथ जिनेन्द्र का केवलीकाल दो हजार चार सौ एकानवै वर्ष और नेमिनाथ जिनेन्द्र का एक कम सातसौ वर्ष, दस मास तथा चार दिन प्रमाण है।

यथा-णमि वा 2491 - णेमि वा 699 मा. 10 दि.4

अड-मास-समहियाणि, ऊणत्तरि वस्सराणि पासजिणे

वीरम्भि तीस वासा, केवलिकालस्स संखत्ति ।(969)

पाश्वजिनेन्द्र के केवलीकाल का प्रमाण आठ मास अधिक उनत्तर वर्ष और वीर जिनेन्द्र का तीस वर्ष है।

यथा-1 पास वास 69 मा 8, 1 वीर वास 30

(तिलोयपण्णती पृष्ठ न. 288)

18 दोषरहित तीर्थङ्कर

जो स्वयं धनी होता है वह दूसरों को धन दे सकता है जो स्वयं निर्धन होता है वो दूसरों को धन कैसे दे सकता है। इसी प्रकार जो स्वयं धर्म, ज्ञान, चारित्र, अहिंसा, सत्य, प्रेम समता के धनी होते हैं वे दूसरों को धर्म ज्ञानादिक वितरण कर सकता है। दूषित वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए स्वच्छ जल, सोडा आदि की जरूरत होती है परन्तु अस्वच्छ वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए यदि गन्दी नाली का पानी प्रयोग करेंगे तब वह वस्त्र स्वच्छता के स्थान पर अस्वच्छ ही अधिक होगा। अतः पतित, पापी, दोषी, कलंकित जीवों को पावन, पवित्र, मंगल, निर्दोष, अकलंकित धर्मात्मा बनाने के लिए एक अत्यन्त पवित्र, निर्दोष, निष्कलंक धर्म तीर्थ प्रवर्तक नेता की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

स्वच्छ दर्पण (आदर्श) से अपने मुख का अवलोकन करके मुख के ऊपर लगे हुए कलंक को हटा सकते हैं, परन्तु अस्वच्छ दर्पण से अपने मुख का यथार्थ अवलोकन नहीं हो सकता है उसके कारण मुख के कलंक को मिटा भी नहीं सकते हैं, परन्तु स्वच्छ दर्पण से इसी प्रकार जो स्वयं निष्कलंक होकर आदर्श (अनुकरणीय) होता है वह दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकता है। अतः जो धर्म प्रचारक, प्रसारक, उन्नयनकारी नेता होते हैं, उनका स्वयं निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है इसलिए धर्म प्रचारक तीर्थकर 18 दोषों से रहित होते हैं। जो मानव 18 दोषों से रहित होते हैं वे ही आस, तीर्थकर, अरिहन्त भगवान्, धर्म संस्थापक, धर्मोपदेशक, केवली, सत्यद्रष्टा, परम ब्रह्म परमात्मा होते हैं। भगवान् के स्वरूप बताते हुए महान् तार्किक दार्शनिक महान् प्राज्ञ समंतभद्र स्वामी ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है-

आसेनोच्छन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना

भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्यामता भवेत् ।(5)

जो वीतरागी (मोह, ममता, आसक्ति से रहित), सर्वज्ञ (चराचर विश्व को जानने वाला) हितोपदेशी (कल्याणकारी उपदेश देने वाले) होते हैं वे ही

यथार्थ से देव कहलाते हैं किन्तु, जो रागी (मोही, ममत्व वाला) असर्वज्ञ और अहितोपदेशी होते हैं वे यथार्थ से देव नहीं हो सकते।

पुनः आचार्य श्री ने सच्चे देव का लक्षण बताते हुए दोषरहितता निम्न प्रकार बतायी हैं-

**क्षुमिपासाजरातङ्क - जन्मान्तक - भय - स्मयः
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्यासः सः प्रकीर्त्यते ।(6)**

(1) भूख (2) प्यास (3) बुढ़ापा (4) रोग (5) जन्म (6) मरण (7) भय (8) गर्व (9) राग (10) द्वेष (11) मोह (12) आश्चर्य (13) अरति (14) खेद (15) शोक (16) निद्रा (17) चिंता (18) स्वेद। इन 18 दोष रहित होता है। उसे आस (धर्मोपदेशक, तीर्थकर) कहते हैं-

जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरिहन्त के सो छवि लायक मोष॥

(1) भूख – असातावेदनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से तथा आध्यात्मिक अनंत सुख का भोग सतत करने से तीर्थकर भगवान् दीर्घकालीन तीर्थकर अवस्था में कभी भी रोटी, भात, मिठान्न आदि का भोजन नहीं करते हैं।

(2) प्यास – असाता वेदनीय (पाप) कर्म के उदय से प्यास लगती है। परन्तु तीर्थकर भगवान् के समस्त पाप कर्म क्षीण, शक्तिहीन होने के कारण दीर्घ तीर्थकर अवस्था में भी तीर्थकर भगवान् को प्यास नहीं लगती है।

भूख तथा प्यास की बाधा से जीव को कष्ट होता है। नीतिकारों ने बताया है कि क्षुधा के समान दूसरा रोग तथा वेदना नहीं है। क्षुधा से दुःख के साथ-साथ शक्ति भी क्षीण हो जाती है। यदि भगवान् भी भोजन करते हैं और पानी पीते हैं तब इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् क्षुधा प्यास के कारण दुःखी हैं और जो दुःखी होता है वह भगवान् नहीं हो सकता। भोजन के लिए परावलम्बी भी होना पड़ता है और जो परावलम्बी होता है वह भगवान्

नहीं हो सकता। भगवान् अक्षय, अनन्त, सुख-शक्ति-ज्ञान, आत्मवैभव के धनी होते हैं वे पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं।

(3) बुढ़ापा – वृद्धत्व संसारी जीव का एक स्वाभाविक प्राकृतिक रोग है। वृद्धत्व के कारण शारीरिक, मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है परन्तु तीर्थकर के परम औदारिक शरीर में वृद्धत्व अवस्था नहीं आती है। लक्ष करोड़ वर्ष की अवधि तक वे किशोर अवस्था के समान रहते हैं।

(4) रोग – रोग असातावेदनीय कर्म के उदय से होता है परन्तु तीर्थकर भगवान् (अरिहंत) साक्षात् सातिशय पुण्य के जीवन्त मूर्ति स्वरूप होने के कारण असाता वेदनीय जनित रोग नहीं होता है।

(5) जन्म – सञ्चित कर्म का उपभोग करने के लिए एक नवीन अवस्था को धारण करना पड़ता है उस नवीन अवस्था का धारण करना ही जन्म है। अरिहंत भगवान् आध्यात्मिक पुरुषार्थ के माध्यम से सञ्चित कर्म को निःशेष कर लेते हैं जिससे उनको पुनर्जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।

(6) मरण – प्रत्येक जीव मरण से अत्यन्त भयभीत होते हैं इसलिए मरण एक भयंकर दुःखदायी रोग है। संसारी जीव के आयु कर्म समाप्त होना ही मरण है। मरण के पश्चात् पुनर्जन्म संसारी जीव, अवशेष कर्म संस्कार से प्राप्त करते हैं। पुनर्जन्म सहित मरण ही यथार्थ रूप से मरण है पुनर्जन्म रहित मरण को मरण नहीं कहा है किन्तु निर्वाण (मोक्ष) है। अरहंत का निर्वाण होता है किन्तु मरण नहीं होता है।

(7) भय – भय कर्म के उदय से संसारी जीव को भय उत्पन्न होता है। तीर्थङ्कर भगवान् आध्यात्मिक वीर्य से भय उत्पादक भय कर्म को समूल नाश करने के कारण उनको किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता है। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दुर्बलता से तथा पाप प्रवृत्ति के कारण अन्तरंग में भय का संचार होता है परन्तु तीर्थङ्कर भगवान् अनन्त शक्ति के पुज्ज स्वरूप तथा चारित्र एवं पुण्य के धनी होने से तीर्थङ्कर को भय उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

(8) गर्व – मान कषाय कर्म के उदय से एवं क्षुद्रता के कारण गर्व उत्पन्न होता है। तीर्थङ्कर भगवान् आध्यात्मिक शक्ति से मान कर्म का मर्दन (क्षय) करके महान् विजयी होते हैं जिससे गर्व रूप क्षुद्रता उनको स्पर्श भी नहीं कर सकती है।

(9) राग – मोहनीय कर्म तथा चरित्र मोहनीय कर्म के उदय से पर वस्तु के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है इस आसक्ति को ही राग कहते हैं। राग आग के समान आत्मा को भस्मीभूत करता है। आध्यात्मिक ध्यानाग्रि से तीर्थङ्कर भगवान् राग उत्पादक कर्म को ही भस्मसात कर लेते हैं जिससे उनके अन्तःकरण में राग उत्पन्न नहीं होता है।

(10) द्वेष – मोहनीय कर्म तथा क्रोध कषाय के उदय से स्व-पर को कष्टदायक द्वेष भाव उत्पन्न होता है। तीर्थङ्कर भगवान् द्वेष को अपना परम शत्रु मानकर द्वेष उत्पादक कर्म का समूल विनाश कर देते हैं जिससे वे द्वेषरूपी दोष से निर्दोष हो जाते हैं।

(11) मोह – मोहनीय कर्म उदय से मोह उत्पन्न होता है। मोह जीव को मोहित करके जीवों को महान् दुःख देता है। तीर्थकर भगवान् संसार का मूल कारण मोह को मानकर उसका समूल नाश कर देते हैं जिससे उनके हृदय में मोह अंकुरित नहीं होता है।

(12) आश्चर्य – अज्ञानता के कारण आश्चर्य उत्पन्न होता है। तीर्थङ्कर भगवान् त्रिकालवर्ती विश्व के चर, अचर वस्तुओं की पर्यायों को युगपद जानने के कारण उनको किसी भी विषय में आश्चर्य नहीं होता है।

(13) अरति – अरति नोकषाय कर्म के उदय से दूसरों के प्रति जो अनादर, घृणा रूप भाव होता है उसकी अरति कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् ध्यानाग्रि से अरति कर्म को समूल भस्म करने के कारण विकार रूप अरति भाव उनमें प्रगट नहीं होता है।

(14) खेद – वीर्यान्तराय कर्म एवं असाता वेदनीय कर्म के उदय से खेद उत्पन्न होता है। तीर्थङ्कर भगवान् दोनों कर्मों का नाश कर देते हैं, इसलिए

उनको खेद उत्पन्न नहीं होता है।

(15) शोक – शोक नोकषाय कर्म के उदय से दुःख, संताप रूप शोक उत्पन्न होता है। नो कषाय का अभाव होने से तीर्थङ्कर को शोक उत्पन्न नहीं होता।

(16) निद्रा – निद्रा नोकषाय कर्म के उदय से तथा आलस्य और क्लान्ति (थकावट) को दूर करने के लिए संसारी जीव निद्रा की शरण लेते हैं परन्तु तीर्थङ्कर भगवान् निद्रा नोकषाय का समूल विनाश करने से तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न होने से निद्रा नहीं लेते हैं।

(17) चिन्ता – संसारी जीव को पाप कर्म के उदय से इष्ट, वियोग, अनिष्ट, संयोग, शारीरिक रोग आदि के कारण चिन्ता होती है परन्तु तीर्थङ्कर (अरहंत) अवस्था में सातिशय अमृत स्थानीय पुण्य कर्म के उदय से तथा मोह-माया-ममत्व आदि के अभाव से चिंता नहीं होती है।

(18) स्वेद – स्वेद, शारीरिक मल है। तीर्थकर भगवान् का शरीर परम औदारिक रूप परिणमन करता है जो कि शुद्ध स्फटिक के समान होता है। परिश्रम से भी तथा थकावट से भी स्वेद (पसीना) निकलता है। तीर्थकर भगवान् के गमनागमन सहन होने से तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न होने से स्वेद (पसीना) नहीं आता है।

(दिव्य ध्वनि)

पूर्व भव में पवित्र विश्वमैत्री, विश्व प्रेम, विश्व उद्घारक, सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय भावनाओं से प्रेरित होकर 16 भावनाओं को भाते हुए केवली श्रुत केवली के पवित्र पादमूल में विश्व को क्षुभित करने वाली तीर्थङ्कर पुण्य प्रकृति को जो बीजरूप से संचय किया था वही पुण्य कर्मरूपी बीज शनैः शनैः उत्कृष्ट योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपी परिसर को प्राप्त करके 13 वें गुणस्थान में 'पूर्ण' रूप से पुष्ट वृक्ष रूप में परिणमन करके अमित फल देने के लिए समर्थ हो जाता है। दिव्य ध्वनि उन फलों में से सर्वोत्कृष्ट फल

है। इस दिव्य ध्वनि की महिमा अचिंत्य, अनुपम, अलौकिक, स्वर्ग-मोक्ष को देने वाली है। दिव्य ध्वनि का सूक्ष्म वैज्ञानिक, भाषात्मक, शब्दात्मक, उच्चारणात्मक, ध्वन्यात्मक विश्लेषण जैन आगम में पाया जाता है। दिव्य ध्वनि के अध्ययनसे शब्द विज्ञान, भाषा विज्ञान ध्वनि आदि का सूक्ष्म सर्वांगीण अध्ययन हो जाता है। दिव्य ध्वनि को 'ॐ कार' ध्वनि भी कहते हैं। दिव्य ध्वनि को विद्या, अधिष्ठात्री देवी, सरस्वती भी कहते हैं। दिव्य ध्वनि को चतुर्वेद, द्वादशांग, श्रुत, आगम आदि नाम से अविधेय करते हैं। जैनागम में जिस प्रकार दिव्य ध्वनि का वर्णन है उस प्रकार का वर्णन अभी तक देश विदेश के अन्यान्य दर्शन, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा विज्ञान, शब्द विज्ञान, व्याकरण, मनोविज्ञान, आधुनिक सम्पूर्ण विज्ञान विभाग में मेरे देखने में नहीं आया है। दिव्य ध्वनि का कुछ सविस्तार वर्णन प्राचीन आचार्यों के अनुसार निम्नलिखित उद्धृत कर रहे हैं—

जोयण पमाण संठिद तिरियामरमणुव णिवह पडिषोहो
मिदु महुर गंभीर तरा यिसद यिसय सयल भासाहि॥(60)
अट्ठरस महाभासा खुल्य भासा यि सत्तसय संखा
अक्खर अणक्खराप्रय सण्णीजीवाण सयल भासाओ॥(61)
एदासिं भासाणं तालुवदंतोद्धृ कंठ वावारं
परिहरिय एक कालं भव्यजणाणंदकर भासो॥(62)
(तिलोयपण्णति। पढम अधिकार) पृ. 14

दिव्य ध्वनि मृदु, मधुर, अति गम्भीर और विषय को विशद करने वाली भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवसरण सभा में स्थित तिर्यञ्च, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करने वाली है, संज्ञी जीवों को अक्षर और अनक्षर रूप 18 महाभाषा तथा 700 छोटी (लघु) भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ से हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्य जनों को आनन्द करने वाली भाषा दिव्य ध्वनि है।

'केरिसा सा दिव्यज्ञुणि सव्वभासासर्वा अक्खराणक्खरप्पिया

अणंतत्थ गब्भबीज पदधडिय सरीर निसंज्ञूविसय छग्डियासु णिरंतरं, पथ्टठमाणिया इयरकालेसु संसय विविज्ञासाणज्ञवसाय भावगय गणह देवं पडिवट्टमाण सहावा संकर वदिगरा भावादो विसद सरुवारारुण बीस धम्म कहा कहण सहवा'

(ज.ध.पु., पृ. 115)

प्रश्न 1 — वह दिव्य ध्वनि कैसी होती है अर्थात् उसका क्या स्वरूप है ?

उत्तर — वह सर्वभाषामयी है, अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनन्त पदार्थ समाविष्ट हैं, अर्थात् जो अनन्त पदार्थों का वर्णन करती है, ऐसे बीज पदों से जिसका शरीर गढ़ा गया है, जो प्रातः मध्याह और सांयकाल इस तीन संन्धयायों में छह छह घण्टे (पौने तीन घण्टे) तक निरन्तर खिरती है और उक्त समय को छोड़कर इतर समय में गणधर देव के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय भाव को प्राप्त होने पर उनके प्रति प्रवृत्ति करना अर्थात् उनके संशयादिक को दूर करना जिसका स्वभाव है, संकर और व्यतिकर दोषों से रहित होने के कारण जिसका स्वरूप विशद है और उन्हींस अध्ययनों के द्वारा धर्म कथाओं का प्रतिपादन करना जिसका स्वभाव है, इस प्रकार के स्वभाव वाली दिव्य ध्वनि समझना चाहिए।

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेत हितं।
कंठौष्ठादि वचोनिमित्त रहितं नो वातारोधोदगतम्॥
स्पष्टं तत्तदभीष्ट वस्तु कथकं निःशेष भाषात्मकं।
दूरासन्नसमं निरूपमं जैनं वचः वातु वः॥(95)

(आचार सारः - पृष्ठ न. 89)

गंभीर कर्ण प्रिय मनोहरतर दोष रहित हितकारी कण्ठ और तालु आदि वचन के निमित्त से रहित वातरोधजनित नहीं है स्पष्ट है उस-उस अभीष्ट वस्तु का कहने वाला है, निःशेष भाषात्मक है। एक योजनान्तर में स्थित दूर और निकट को समान श्रवण गोचर होने वाले उपमातीत जिनेन्द्र भगवान के स्वरनाम कर्म-वर्गणा जनित वचन तुम्हारी रक्षा करें।

वह जिनेन्द्र वचन जो गंभीर है, मधुर है, अतिमनमोहक है, हितकारी है, कंठ-ओष्ठ आदि वचन के कारणों से रहित है, पवन के न रोकने से

प्रकट है, स्पष्ट है, परम उपकारी पदार्थों का कहने वाला है, सर्वभाषामयी है, दूर व निकट में समान सुनाई देता है, वह उपमा रहित है सो वे श्रुत हमारी रक्षा करें।

दिव्य ध्वनि का एकानेक रूप

**एक तयोऽपि च सर्व नृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषाः
अप्रतिपत्तिमपारस्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥(70)**
(आदि पुराण। पर्व 23- 549)

यद्यपि वह दिव्य ध्वनि एक प्रकार की थी तथापि भगवान् के महात्म्य से समस्त मनुष्यों की भाषाओं और अनेक कुभाषाओं को अपने अन्तर्भूत कर रही थी अर्थात् सर्वभाषा रूप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वों का बोध करा रही थी।

**एकतयोऽपितथैव जलौघश्चित्ररसौ भवति द्रुमभेदात् ।
पात्रविशेषवशाद्य तथायं सर्वविदो ध्वनिरपि बहुत्वम् ॥(71)**

जिस प्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस वाला हो जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञ देव की वह दिव्यध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती है।

**एक तयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यदयदुपाहितमस्य विभासम् ।
स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुद्घैः ॥(72)**

अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार का होता है तथापि उसके पास जो-जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं वह अपनी स्वच्छता से अपने आप उन-उन पदार्थों के रंगों को धारण कर लेता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् की उत्कृष्ट दिव्य-ध्वनि भी यद्यपि एक प्रकार की होती है तथापि श्रोताओं के भेद से वह अनेक रूप धारण कर लेती है।

जिस प्रकार जल वृष्टि के समय में जल का रस, गन्ध, वर्ण, एवं स्पर्श एक समान होते हुए भी विभिन्न मिट्ठी के सम्पर्क से उसमें विभिन्न परिणमन होता है। लाल मिट्ठी के सम्पर्क से जल लाल हो जाता है काली

मिट्ठी के सम्पर्क से जल काला हो जाता है उसी प्रकार दिव्य-ध्वनि रूपी जल विभिन्न भाषा-भाषी श्रोताओं के कर्ण रूपी मिट्ठी में प्रवेश होने के बाद उस उस भाषा रूप में परिणमन हो जाता है। वृष्टि जल का रस एक समान होते हुये भी विभिन्न वृक्ष में प्रवेश करके विभिन्न रस, रूप परिणमन कर लेता है। जैसे— गन्धा के वृक्ष में प्रवेश करने से जल मधुर रस रूप होता है, नीम के वृक्ष में प्रवेश करके कड़वा (तिक्त) रस रूप होता है, मिर्च के वृक्ष में प्रवेश करके चरपरा रूप होता है, इमली के वृक्ष में प्रवेश करके खट्टा रस रूप परिणमन कर लेता है इसी प्रकार - दिव्य ध्वनि रूपी जल विभिन्न भाषा भाषियों के कर्ण (गव्हर) में प्रवेश करके विभिन्न रूप में परिणमन कर लेती है। जो श्रोता संस्कृत जानता है उसके कर्ण गव्हर में (कर्ण पुट में) जाकर संस्कृत रूप में हिन्दी भाषी श्रोता को निमित्त पाकर हिन्दी भाषा रूप में, कन्नड़ भाषी श्रोता को निमित्त पाकर कन्नड़ भाषा रूप में, परिणमन कर लेती है। जिस प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक युग में एक यन्त्र का अविष्कार हुआ है जिस यन्त्र के माध्यम से भाषा परिवर्तित हो जाती है। एक वक्ता इंग्लिश में भाषण कर रहा है और एक हिन्दी भाषी श्रोता उस वैज्ञानिक यन्त्र का प्रयोग करके इंग्लिश भाषण को परिवर्तित करके हिन्दी में सुन सकता है। उस समवसरण रूपी धर्म-महासभा में असंख्यात देव, करोड़ अवधि मनुष्य लक्षावधि पशु विनम्र भाव से मित्रता से एक साथ बैठकर उपदेश सुनते हैं। दिव्य ध्वनि निष्प्रुत होकर पशु के कान में पहुँचने पर वह दिव्य ध्वनि पशु के भाषारूप में परिवर्तित हो जाती है। दिव्य ध्वनि देवों के कान में पहुँच कर देवभाषा रूप परिणमन कर लेती है। इसलिए दिव्य ध्वनि वक्ता के अपेक्षा निश्रुत अवस्था में एक होते हुए भी विभिन्न श्रोताओं के निमित्त से विभिन्न भाषा रूप परिणमन करने के कारण अनेक स्वरूप हैं, इसलिए दिव्य ध्वनि अठारह महाभाषा तथा सात सौ लघु (क्षुद्र) भाषा स्वरूप है।

दिव्य ध्वनि सर्व भाषास्वभावी—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रणियत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि॥
(स्वं स्तो 97 श्लोक)

हे सर्वज्ञ हितोपदेश भगवन्! आपकी वचनामृत सर्वभाषा में परिणमन होने योग्य स्वभाव को धारण किये हुए हैं। विश्व धर्मसमा (समवसरण) व्याप हुआ श्री सम्पन्न वचनामृत प्राणियों को उसी प्रकार तृप्त करता है जिस प्रकार अमृतपान से प्राणी तृप्त हो जाता है।

योजनान्तर दूरसमीपस्थाष्टा—दशभाषा—समहतशतकुभाषायुत—तिर्यग्देव
मनुष्यभाषाकार—न्यूनाधिक—भावातीत मधुर मनोहर—गम्भीरविशद
वागतिशयसम्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर — ज्योतिष्क —
कल्पवासीन्द्र—विद्याधर—चक्रवर्तीबल — नारायण— राजाधिराज—
महाराजाधर्ममहामहामण्डलीकेन्द्राग्निवायु— भूति— सिंह
व्यालादि—देवविद्याधर मनुष्यर्षितिर्यग्निन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थ
कर्ता।

एक योजन के भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त ऐसे तिर्यग्द, देव और मनुष्यों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकता से रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषा के अतिशय को प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी देवों के इन्द्रों से विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमण्डलीक, महामण्डलीक, राजाओं से, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि देव तथा विद्याधर, मनुष्य, ऋषि और तिर्यग्नों के इन्द्रों से पूजा के अतिशय को प्राप्त श्री महावीर तीर्थकर अर्थ कर्ता समझना चाहिए।

(षट्खंडागमे जीवद्वाणं – 61 पृष्ठ सतपुरुषाणुयोगद्वारे)
दिव्य ध्वनि अक्षर-अक्षरात्मक अक्खराणक्खराप्तिया।

(क.पा.)

दिव्य ध्वनि अक्षर-अनक्षरात्मक है —

अनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेश प्राप्ति समयपर्यंत.....
तदन्तरं च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थीषु संशयादि निराकरणेन सम्यग्ज्ञान
जनकं.....(गो.जी.)

केवलीकी दिव्य-ध्वनि श्रोताओं के कर्णप्रदेश को जब तक प्राप्त नहीं होता है तब तक अनक्षर स्वरूप ही है। जब श्रोता के कर्णप्रदेश में प्राप्त हो जाती है तब अक्षरात्मक रूप परिणमन हो जाती है। यथार्थ वचन का अभिप्राय श्रोताओं के संशय आदि को दूर करना है।

वयणेण विणा अत्थपदुप्पायणं ण संभवइ, सुहुमअण्याणै सण्णाए
परुवणाणुववत्तीदो ण चाणकखराए झूणीए अत्थपदुप्पायणं जुज्जदे,
अणकखरभासतिरिक्खेमोतृणणेंसि तत्तो अत्थावगमां भावदो। ण च
दिव्यज्ञूणी अणकखरपिप्या चेव, अद्भारससत्तसयभास.....
कुभासाप्तियत्तादो।.....तेसिमणेयाणं बीजपदण्लीणत्थपरुवायाणं
दुवाल संगाणं कारओ गणहर भडारओ गंथकत्तारओत्तिअण्मुवगमादो।

प्रश्न — वचन के बिना अर्थ का व्याख्यान सम्भव नहीं क्योंकि सूक्ष्म पदार्थों की संज्ञा अर्थात् संकेत द्वारा प्ररूपण नहीं बन सकती। यदि कहा जाए कि अनाक्षरात्मक ध्वनि द्वारा अर्थ की प्ररूपण हो सकती है सो भी योग्य नहीं है, क्योंकि अनक्षर भाषायुक्त तिर्यग्नों को छोड़कर अन्य जीवों को उससे अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता है और दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक ही हो सो भी बात नहीं है क्योंकि वह अठारह भाषा व सात सौ कु (लघुभाषा) भाषा स्वरूप है।

उत्तर — अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीज पदों का प्ररूपक अर्थकर्ता तथा बीज पदों में लीन, अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता “गणधर भट्टारक” ग्रन्थकर्ता हैं ऐसा स्वीकार किया गया है।

अभिप्राय यह है कि बीज पदों का जो व्याख्याता है वह ग्रन्थकर्ता कहलाता है।

दिव्य ध्वनि की अक्षरात्मकता—

तीर्थकर वचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम् ।

एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि
असत्यमोषवचन-सत्वतस्तस्य ध्वनेरक्षरत्वसिद्धेः ।

प्रश्न — तीर्थकर के वचन अनक्षर रूप होने के कारण ध्वनिरूप हैं, और
इसलिए वे एकरूप हैं, और एकरूप होने के कारण वे सत्य और अनुभय
इस प्रकार दो प्रकार के नहीं हो सकते ?

उत्तर — नहीं, क्योंकि केवली के वचन में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभय
रूप वचन का सद्भाव पाया जाता है। इसलिए केवल ध्वनि अनक्षरात्मक
है।

यह बात प्रसिद्ध है।

साक्षर एव च वर्णसमुहान्नैव विनार्थगतिर्ज गतिस्यात् ।

दिव्य ध्वनि अक्षररूप ही है, क्योंकि अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ
का परिज्ञान नहीं हो सकता।

यत्पुष्टमादितस्तेन तत्सर्वमनुपूर्वशः ।

वाचस्पतिरनायासाद् भरतं प्रत्यबू बुधत् ॥(190)

(आदि पु.-अ. 1 - पृ.25)

भरत ने जो कुछ पूछा - उसको भगवान् ऋषभदेव बिना किसी कष्ट के क्रम
पूर्वक कहने लगे।

दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक-

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्टद्वयं ।
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं नोच्छवासरुद्धक्रमं ॥
शांतार्थविषेः समं पशुगणैराकर्णितं कर्षिभिस्तत्रः ।
सर्वविदो विनाशपत्रः पायादपूर्वं वचः ॥

सर्व जीव हितकर वर्ण रहित, दोनों ओष्ठ के परिस्पन्दन से रहित, इच्छा रहित,

दोष रहित, उच्छ्वास रुद्ध से रहित, द्वेष आदि से रहित होने के कारण
शान्त समान रूप से पशु-पक्षी, मनुष्य-देव आदि द्वारा सुनने योग्य सम्पूर्ण
विषय को प्रतिपादन करने वाला समस्त विपद से रहित, अपूर्व वचन
(दिव्य-ध्वनि) हम सब की रक्षा करे।

इस श्लोक में 'न' वर्ण सहित विश्लेषण से सिद्ध होता है दिव्य ध्वनि
अक्षर से रहित होने के कारण अनक्षरात्मक है।

भाषात्मको भाषारहितश्चेति, भाषात्मको
द्विविधोऽक्षरात्मकोऽनक्षरात्मकश्चेति । अक्षरात्मकः संस्कृत
प्राकृतादिरूपेणायम्लेच्छभाषाहेतुः, अनक्षरात्मको द्विन्द्रियादिशब्दोरुपो
दिव्य-ध्वनिरूपश्च ।

भाषा दो प्रकार की है-

- (1) भाषात्मक
- (2) अभाषात्मक ।

पुनः भाषा (1) अक्षरात्मक (2) अनाक्षरात्मक रूप से दो प्रकार की है-

अक्षरात्मक भाषा-

संस्कृत, प्राकृत, आर्य, म्लेच्छादि भाषा रूप जो शब्द हैं वे सब अक्षरात्मक
भाषा हैं।

अनक्षरात्मक भाषा-

द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, अंसज्जी, पंचेन्द्रिय जीवों के शब्द तथा
केवली भगवान् के दिव्य-ध्वनि अनक्षरात्मक हैं।

दिव्य ध्वनि अक्षर एवं अनक्षरात्मक है। इसमें सूक्ष्म भाषा विज्ञान
शब्द विज्ञान, ध्वनि विज्ञान के सिद्धान्त निहित हैं। जिस समय टेलिप्रिन्टर
भेजा जाता है उस समय टेलिप्रिन्टर का संवाद व सन्देश कुछ अनेक
अनक्षरात्मक संकेतात्मक, (टिक-टक-टक-टर) ध्वनि के रूप में रहता है।
संवाद ग्राहक उस संकेतात्मक ध्वनि को अक्षर भाषात्मक ध्वनि में परिवर्तित
कर देता है।

उसी प्रकार जब दिव्य ध्वनि खिरती है तब दिव्य-ध्वनि अनक्षरात्मक रहती है। श्रोता के कर्ण में पहुँचने के बाद वह ध्वनि श्रोता के योग्य भाषा में परिवर्तित हो जाती है। इसलिए दिव्य ध्वनि निश्रुत होने के बाद जब तक श्रोता तक नहीं पहुँचती तब तक वह दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक, अभाषात्मक (अनेकभाषात्मक, सर्वभाषात्मक), रहती है एवं जब श्रोता के कर्ण में प्रवेश करती है तब वह दिव्य ध्वनि अक्षरात्मक, भाषात्मक, परिवर्तित हो जाती है।

दिव्य-ध्वनि देवकृत-

कथमेवं देवोपनीतत्वमितिचेत् ?

मागधदेवं संनिधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृत भाषया प्रवर्तते ।

(दर्शनपाहुडटीका 35/28/13.)

प्रश्न - यह देवोपनीत कैसे है ?

उत्तर - यह देवोपनीत इसलिए है कि मगध देवों के निमित्त से संस्कृत रूप परिणत हो जाती है। (क्रिया कलाप टीका 3 - 16/248/3.)

दिव्य ध्वनि को अर्धमागधी देवकृत् अतिशय तथा केवलज्ञान के अतिशय भी कहते हैं। हरिवंश पुराण में जिनसेन स्वामी ने दिव्य-ध्वनि को सर्वार्ध-मागधी-भाषा बताते हुए कहा है—

अमृतस्येव धारां तां भाषां सर्वार्धमागधीं।
पिबन् कर्णपुटैर्जैर्नीं ततर्प त्रिजगज्जनः ॥(16) (तृतीय सर्ग)

सर्वभाषारूप परिणमन करने वाली अमृत की धारा के समान भगवान् की अर्धमागधी भाषा का कर्णपुटों से पान करते हुए तीन लोक के जीव संतुष्ट हो गये। इसी शास्त्र में इसी तृतीय अध्याय में पूर्व उक्त जिनसेन स्वामी ही दिव्य ध्वनि को भगवान् द्वारा प्रतिपादित वचन है सिद्ध करते हुए बताते हैं कि—

धर्मोक्तौ योजनव्यापी चेतः कर्णरसायनम् ।
दिव्यध्वनिर्जिनेन्द्रस्य पुनाति स्म जगत्त्रयम् ॥(38)

जो धर्म का उपदेश देने के लिए एक योजन तक फैल रही थी तथा जो चित्त और कानों के लिए रसायन के समान थी ऐसी भगवान् की दिव्यध्वनि तीनों जगत् को पवित्र कर रही थी।

उपरोक्त समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वस्तुतः दिव्य ध्वनि पूर्वोपार्जित सर्वश्रेष्ठ तीर्थङ्कर प्रकृति के उदय से तथा भव्यों के पुण्य उदय से तीर्थङ्कर के सर्वाङ्ग से ओंकार ध्वनि स्वरूप सर्व भाषात्मक अनाक्षरात्मक (कोई एक निश्चित भाषा नहीं होने के कारण) खिरती है। परन्तु गणधर देव उस बीजात्मक, सूत्रात्मक उपदेश को ग्रंथरूप से रचना करते हैं पूर्वचार्य ने कहा भी है—

“अरिहंत भासियत्थं गणहर देविहं गंथियं सम्मं ।”

अरिहंत भगवान् के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को गणधर देव सम्यक् रूप ग्रंथित करते हैं अर्थात् तीर्थङ्कर भावश्रुत के कर्ता हैं एवं गणधर द्रव्यश्रुत के कर्ता हैं। तार्किक चूडामणि महान् दार्शनिक भगवत् वीरसेन स्वामी विश्व के अनुपम साहित्य धवला में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं—

पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं
चोद्दसपुव्वाणं च गंधाणमेककेण चेव मुहूर्तेण कमेण रयना कदा । तदो
भाव-सुदस्य अत्थ-पदाणं च तित्थयरादो सुद-पज्जाएण
गोदमो परिणदोत्ति दव्व-सुदस्य गोदमो कत्ता ।

छक्खडागमे जीवद्वाणं (पृ.65)

अनन्तर भाव श्रुतरूप पर्याय से परिणत उस इन्द्रभूति ने 12 अंग और 14 पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की अतः भावश्रुत और अर्थपदों के कर्ता तीर्थकर हैं तथा तीर्थकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। इस तरह गौतम गणधर से ग्रंथ रचना हुई।

जिस प्रकार जलवृष्टि होने के पश्चात् वह जल नदी में श्रोत रुप में बहकर जाता है उस जल को जीवनोपयोगी बनाने के लिए इंजिनियर नदी में डेम बनाकर पानी को संचित करते हैं उस पानी को बड़े-बड़े पानी पाइप के द्वारा वहन करके पानी टंकी में सञ्चित करते हैं। पुनः छोटे-छोटे नल द्वारा नगर, गली, घर आदि में पहुँचाते हैं। घर में जो पानी पहुँचता है उसको नल का पानी कहते हैं। वस्तुतः पानी नल का नहीं है नल का पानी जलकुंड से आया एवं जलकुंड का पानी नदी से आया और नदी का पानी वृष्टि का है। इसी प्रकार दिव्य ध्वनि रूपी जल सर्वज्ञ भगवान से निर्झरित होता है उस महान् श्रोत को साधारण जनोपयोगी बनाने के लिए गणधर रूपी इंजिनियर ग्रंथ (आगम) रूपी डेम (कृत्रिम जलाशय) में संचित करते हैं। जिस प्रकार संचित जल छोटे-छोटे पाइपों के माध्यम से घर-घर पहुँचाया जाता है। उसी प्रकार मगध जाति के देवों के माध्यम से उस पवित्र दिव्य ध्वनि रूपी जल को जन-जन तक पहुँचाया जाता है।

जिस प्रकार एक भाषण कर्ता बहुजन के मध्य में भाषण करता है उस भाषण को सर्व श्रोताओं के समीप पहुँचाने के लिए माइक लाउडस्पीकर का प्रयोग किया जाता है। भाषण कर्ता जो भाषण करता है वही भाषण ग्रहण करके इलेक्ट्रोमैग्नेटिव वेव में परिवर्तित करके लाउडस्पीकर तक पहुँचा देता है और लाउडस्पीकर उस इलेक्ट्रोनिकमैग्नेटिव वेव को परिवर्तित कर साउण्ड वेव रूप में परिवर्तित कर देता है। वस्तुतः भाषण विषय, भाषण कर्ता का होते हुए भी साधारण भाषा में साधारणतः लाउडस्पीकर का शब्द है कहा जाता है। उसी प्रकार दिव्य ध्वनि वस्तुतः तीर्थकर से निर्झरित होती है। गणधर तथा मगध देवों के द्वारा योग्य रीति से जन-जन तक पहुँचायी जाती है। जिस प्रकार जल पाइप अथवा लाउडस्पीकर के माध्यम से पानी तथा भाषण जन-जन तक पहुँचाने के कारण निमित्त वशात् पानी को नल का पानी, भाषण को लाउडस्पीकर का कहा जाता है उसी प्रकार दिव्य ध्वनि को देव पुनीता कहना नैमित्तिक व्यवहार मात्र है।

मगध जाति के देव दिव्य ध्वनि को जन-जन तक पहुँचाने के कारण उनका उपकार स्वीकार करके उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए

भी देवकृत कहना युक्ति संगत है। उपरोक्त विषय का प्राचीन आचार्यकृत कोई भी ग्रंथ में स्पष्ट वर्णन नहीं है परन्तु मैंने विषय को स्पष्टीकरण करने के लिए अपनी बुद्धि, तर्क से किया है। इसमें जो सत्यांश है उसको पाठकगण ग्रहण करके असत्यांश को मेरी अज्ञानता का कारण मानकर त्याग कर देवें।

दिव्य ध्वनि का महत्वः-

महान् आध्यात्मिक क्रांतिकारी संत कुन्दकुन्दाचार्य दिव्य ध्वनि का आलोकित अनुपम अद्वितीय महत्व बताते हुए अष्ट पाहुड़ में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं—

जिणवयण मोसहमिण विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।

जरमरण वाहि हरणं खयकरणं सत्वदुक्खाणं ॥(17)

अष्ट पाहुड़

जिनेन्द्र भगवान् के अनुपम वचन महान् औषधि सदृश है। जिस प्रकार महौषधि सेवन से शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार दिव्य ध्वनि रूपी महौषधि के सेवन से मानसिक, आध्यात्मिक एवं सांसारिक रोग नष्ट हो जाते हैं। विष महाविष तुल्य है। विष वेदना दूर करने के लिए आयुर्वेद के अनुसार पहले विष रोगी को विरेचन औषधि देकर वांति कराते हैं, उसी प्रकार विषय सुख रूपी विष को वांति कराने के लिए जिनेन्द्र वचन महौषधि स्वरूप हैं, लोकोक्ति है अमृतपान करने से जीवन अजरामर हो जाता है। वस्तुतः दिव्यध्वनि ही वचनामृत है, इस वचनामृत को जो पान करता है वह जन्म, जरा, मरण एवं आदि व्याधि-उपाधि से रहित होकर शाश्वतिक अमृत तत्व (मोक्ष तत्व) को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण दुःखों का कारण अज्ञान, मोह, कुचारित्र है। दिव्य ध्वनि के माध्यम से अज्ञान, मोह रूपी अंधकार नष्ट होने से जीव के अंतःकरण में ज्ञानरूपी ज्योति प्रज्जवलित हो जाती है जिससे अज्ञान आदि अंधकार नष्ट हो जाता है, आध्यात्मिक ज्योति से जीव यथार्थ सुखमार्ग को पहिचान कर तदनुकूल आचरण करता है, जिससे शाश्वतिक सुख प्राप्त होता है और समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं— यह दिव्य ध्वनि “विहुवण- हिद-

मधुर- विसद- वक्काणं'' अर्थात् त्रिभुवन हितकारी, मधुर विषद स्वरूप है।

देवकृत तेरह अतिशय

माहप्पेण जिणाणं, संखेजजेसुं च जोयणेसु वणं।
पल्लव-कुसुम-फलद्वी-भरिदं जायदि अकालम्मि ॥(916)
(ति.प.)

कंठय-सक्कर-पहुंदि, अवणित्ता वादि सुरकदो वाऊ।
मोत्तूण पुव्व-वेरं, जीवा वृद्धंति मेत्तीसु ॥(917)
दप्पण-तंल-सारिच्छ, रयणमई होदि तेत्तिया भूमी।
गंधोदकेइ वरिसइ, मेघकुमारो पि सक्क-आणाए ॥(918)
फल-भार-णमिद-साली-जवादि-सस्सं सुरा विकुव्वंति।
सव्वाणं जीवाणं, उप्पज्जदि णिच्चमाणंदो ॥(919)
वायदि विकिरियाए, वायुकुमारो हु सीयलो पवणो।
कूव-तडायादीणि, णिम्मल-सलिलेण पुण्णाणि ॥(920)
धूमुक्कपडण-पहुदीहि विरहिदं होदि णिम्मलं गयणं।
रोगादीणं बाधा, ण होंति सयलाण जीवाणं ॥(921)
जक्खिंद-मत्थएसुं-किरणुज्जल-दिव्व धम्म-चक्काणि।
दट्टूण संठियाइं, चत्तारि जणस्स अच्छरिया ॥(922)
छप्पण चउदिसासुं, कंचण-कमलाणि तित्थ-कत्ताणं।
एककं च पायपीढे, अच्चण-दव्वाणि दिव्व-विहिदाणि ॥(923)

(1) तीर्थकरों के महात्म्य से संख्यात योजनों तक वन प्रदेश असमय में ही पत्रों, फूलों एवं फलों से परिपूर्ण समृद्ध हो जाता है; (2) काँटों और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु प्रवाहित होती है, (3) जीव पूर्ण वैर को छोड़कर मैत्री-भाव से रहने लगते हैं; (4) उतनी भूमि दर्पणतल सदृश्य स्वच्छ एवं रत्नमय हो जाती है; (5) सौधर्म इन्द्र की आङ्गा से मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करता है; (6) देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य की रचना करते हैं; (7) सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है; (8) वायुकुमार देव

विक्रिया से शीतल-पवन चलाता है; (9) कूप और तालाब आदिक निर्मल जल से परिपूर्ण हो जाते हैं; (10) आकाश धुआँ एवं उल्का पातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है; (11) सम्पूर्ण जीव रोग बाधाओं से रहित हो जाते हैं; (12) यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों की भाँति उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म-चक्रों को देखकर मनुष्यों को आशर्य होता है तथा (13) तीर्थकरों की चारों दिशाओं (विदिशाओं) में छप्पन स्वर्ण-कमल, एक पादपीठ और विविध दिव्य पूजन-द्रव्य होते हैं।

तीर्थकर के महान् पुण्य प्रताप से तथा आध्यात्मिक वैभव से प्रेरित, अनुप्राणित होकर तथा तीर्थकर के विश्वकल्याणकारी अमर संदेश के प्रचार-प्रसार करने के लिये देवलोग भी सक्रिय भाग लेते हैं। उसके लिये समवसरण की रचना के साथ-साथ कुछ महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य करते हैं, उसको देवकृत अतिशय कहते हैं।

(1) सब ऋतुओं के फलपुष्प एक साथ होना:-

तीर्थकर के सातिशय पुण्य प्रताप से प्रकृति कण-कण में प्रभावित हो जाती है। तीर्थकर जिस क्षेत्र में रहते हैं, योग्य समय में योग्य वर्षा होती है तथा वातावरण अत्यन्त पवित्र प्रशान्त होने के कारण तथा तीर्थकर के अहिंसा, मैत्रीभाव, विश्वमैत्री, प्रेम से प्रभावित होकर एक ही समय में सब ऋतुओं के फल-पुष्प पुष्पित, पल्लवित हो जाते हैं।

परिनिष्पन्न-शाल्यादिसस्यसंपन्नम्ही तदा।

उद्भूतहर्षरोमांचा स्वामिलाभादिवाभवत् ॥(266)॥

(आ.पु.अ.25 पृ.631)

भगवान् के विहार के समय पके हुए शालि आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानों स्वामी का लाभ होने से उसे हर्ष के रोमांच ही उठ आए हों।

अकालकुसुमोदभेदं दर्शयन्ति स्म पादपाः।
ऋतुभिः सममागत्य संरूद्धाः साध्वसादिव ॥269॥

वृक्ष भी असमय में फूलों के उद्भेद को दिखला रहे थे अर्थात् वृक्षों पर बिना समय के ही पुष्प आ गये थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों सब ऋतुओं ने भय से एक साथ आकर ही उनका आलिंगन किया हो।

अहंयव इवाजसं फलपुष्पानतद्वमाः ।
सहैव षडपि प्राप्त ऋत-वस्तं सिषेविरे ॥18॥
(हरि.पु.अ.3-पृ.25)

जिनमें समस्त वृक्ष निरन्तर फल और फूलों से नम्रीभूत हो रहे थे ऐसी छहों ऋतुओं “मैं पहले पहुँचूँ” “मैं पहले पहुँचूँ” इस भावना से ही मानो एक साथ आकर उनकी सेवा कर रही हैं।

क्षेत्र परिस्थिति, जलवायु भावात्मक परिस्पंदन का परिणाम भी वनस्पतियों के ऊपर पड़ता है जिस प्रकार हिमालय के पाददेश चिरश्रोता, गंगा, सिन्धु, नीलनदी, ब्रह्मपुर आदि तटभूमि सुन्दर वन में चिरहरित वनस्पति होती है। वर्षा ऋतु में वनस्पति पल्लवित पुष्पित होती है परन्तु ग्रीष्म ऋतु में नहीं। वर्तमान वैज्ञानिक लोग विशेषतः मनोवैज्ञानिक लोगों ने सिद्ध किया है कि वनस्पतियाँ, पवित्र, प्रेम, अहिंसा भाव तथा मधुर संगीत से विशेषतः पल्लवित पुष्पित फलवती होती हैं इनका वर्णन मंत्र-विज्ञान में किया गया है।

उपरोक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि वनस्पति परिसर एवं भावों से प्रभावित होती है इसलिए तीर्थकर के पवित्र वातावरण से अहिंसात्मक प्रभाव से प्रभावित होकर वृक्षों पर एक ही समय में सब ऋतुओं के फल-फूल लग जाते हैं।

(2) निष्कंटक पृथ्वी होना:-

पवन कुमार जाति के देवों के द्वारा तीर्थकर के विहार करते समय सुगन्ध मिश्रित हवा चलती है। पृथ्वी धूल, कंटक (काँटा) घास, पाषाण, कीटादि रहित होकर स्वच्छ रहती है।

देवा वायुकुमारास्ते योजनान्तर्धरातलम् ।
चक्रः कण्टकपाषाणकीटकादिविवर्जितम् ॥(22)॥

वायु कुमार के देव एक योजन के भीतर ही पृथ्वी को कंटक, पाषाण तथा कीड़े-मकोड़े आदि से रहित कर रहे थे ॥22॥

जब अपने घर, ग्राम या नगर में कोई विशिष्ट अतिथि, नेता, मंत्री आदि आते हैं, तब उस अवसर पर प्रायः सभी नगर, रास्ता आदि स्वच्छ करते हैं। तो क्या ? तीन लोक के प्रभु, जगत्उद्धारक, विश्व बन्धु तीर्थकर के आगमन से देवलोक क्या पृथ्वी रास्ता स्वच्छ करने में क्या आश्चर्य है।

(3) परस्पर मैत्री:-

तीर्थकर भगवान् ने पूर्वमव से विश्व मैत्री भावना से प्रेरित होकर जो बीजभूत पुण्य कर्म का बन्ध किया था उस बीजभूत पुण्य कर्म तीर्थकर अवस्था में अंकुरित पल्लवित होकर फल प्रदान कर रहा है। उस मैत्री फल के कारण उनके पवित्र चरण के सान्निध्य प्राप्त करते हैं, वे सम्पूर्ण जीव परस्पर की शत्रुता भूलकर परस्पर मैत्री भाव से बंध जाते हैं।

अन्योन्य-गंधमासोदुमक्षमाणामपि द्विषां ।
मैत्री बभूव सर्वत्र प्राणिनां धरणीतले ॥(17)॥

जो विरोधी जीव एक-दूसरे की गंध भी सहन करने में असमर्थ थे सर्वत्र पृथ्वी तल पर उन प्राणियों में मैत्री भाव उत्पन्न हो गया था।

जीवों में विरोध दूर होकर परस्पर में प्रीति भाव उत्पन्न करने में प्रीतिकर नामक देव तत्पर रहते थे।

(4) दर्पण तल के समान स्वच्छ पृथ्वी होना:-

स्वान्तः शुद्धिं जिनेशाय दर्शयन्तीव भूवधूः ।
सर्वरल्मयी रेजे शुद्धादर्शतलोज्वला ॥(19)॥
(ह.पु./अ.3)

सर्व रत्नमयी तथा निर्मल दर्पण तल के समान उज्ज्वल पृथ्वी रूपी स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के लिए अपने अंतःकरण की विशुद्धता ही दिखला रही हो ।

जिनसेन स्वामी आदि पुराण में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं:-

आदर्शमण्डलाकारपरिवर्तित भूतलः ॥25॥

आर्दश (दर्पण) के समान पृथ्वी मण्डल को देवलोग स्वच्छ, पवित्र, रत्नमय बना देते हैं ।

(5) शुभसुगन्धित जल की वृष्टि:-

तदनन्तरमेवोच्चैस्तनिताः स्तनिताभिधाः ।

कुमारा ववृषुर्मधीभूता गन्धोदकम् शुभम् ॥23॥

(ह.पु.अ.3)

उनके बाद ही जोर की गर्जना करने वाले स्तनित कुमार नामक देव मेघ का रूप धारण कर शुभ सुगन्धित जल की वर्षा कर रहे थे ।

(6) पृथ्वी शस्य से पूर्ण होना:-

रेजे शाल्यादिसस्यौघैमेदिनी फलशालिभिः ।

जिनेन्द्रदर्शनानन्दप्रोद्धिन्नपुलकैरिव ॥25॥

हरिवंश पुराण / तृतीय सर्ग

फलों से सुशोभित शालि आदि धान्यों के समूह से पृथ्वी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो दर्शन से उत्पन्न हुए हर्ष से उसके रोमाञ्च ही निकल आये हों ।

जिस प्रकार भौतिक वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक लोग कृत्रिम वर्षा करते हैं तथा असमय में ही वैज्ञानिक साधनों से कम दिन में शस्य उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार देव लोग भी अपनी दैविक शक्ति के माध्यम से शस्यादि उत्पन्न करते हैं ।

(7) सम्पूर्ण जीवों को परमानन्द प्राप्त होना:-

विहरत्युपकाराय बभूव	जिने परमानन्दः	परमबांधवे । सर्वस्य जगतस्तदा ॥21॥ (हरिवंश पु.सर्ग3)
------------------------	-------------------	--------------------------------------------------------------

परम बन्धु जिनेन्द्र देव के जगत् कल्याणार्थ विहार होने पर समस्त जगत् को परम आनन्द प्राप्त होता था । जिस प्रकार जगत् हितकारी विश्व बंधु तीर्थकर के दर्शन से विहार से, समस्त जगत् को परम आनन्द प्राप्त होता है ।

(8) सुगन्धित वायु बहना:-

जनितांग सेवामिव	सुख प्रकुर्वाणः	स्पर्शो श्रीवीरस्य	ववौ समीरणः ॥20॥ विहरणानुगः । हरिवंश पु./पर्व 3
--------------------	--------------------	-----------------------	---------------------------------------------------------

शरीर में सुखकर स्पर्श उत्पन्न करने वाली विहार के अनुकूल-मन्द सुगन्धित वायु बह रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् की सेवा ही कर रही हो । जिस प्रकार वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक युग में उष्णता शांत करने के लिये फेन, कूलर, वातानुकूल प्रकोष्ठ आदि का आविष्कार हुआ है उसी प्रकार देव लोग अपनी दैविक ऋद्धि वैक्रियक शक्ति से शीतल पवन प्रवाहित करते थे ।

(9) जलाशय का जल निर्मल होना:-

जिस प्रकार एक नक्षत्र विशेष के उदय से या निर्मली (कतक फल) घिसकर डालने से कीचड़ नीचे दब जाता है एवं पानी स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार देव लोग अपनी शक्ति से तीर्थकर जहाँ-जहाँ विहार करते थे वहाँ के जलाशय को निर्मल जल से परिपूर्ण कर देते थे ।

(10) आकाश निर्मल होना:-

जिनेन्द्रकेवलज्ञानवैमल्यमनुकृत्वा ।

घनावरणमुक्तेन गग्नेन विराजितम् ॥२६॥

नीरजोभिरहोरात्रं जनताभिरिवेश्वरः ।

आशाभिरपि नैर्मल्यं विप्रतीभिरुपासितः ॥२७॥

हरिवंश पु. / सर्ग ३

मेघों के आवरण से रहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह जिनेन्द्र देव के केवल ज्ञान की निर्मलता का ही अनुकरण कर रहा हो ।

जिस प्रकार रजोधर्म से रहित होने के कारण निर्मलता-शुद्धता को धारण करने वाली स्त्रियां रात-दिन अपने पति की उपासना करती हैं उसी प्रकार रज अर्थात् धूलि से रहित होने के कारण उज्ज्वलता को धारण करने वाली दिशायें भगवान् की उपासना कर रही थीं ।

जिस प्रकार मेघाछिन्न आकाश तीव्र वायु प्रभाव से मेघ हटने के पश्चात् निर्मल हो जाता है उसी प्रकार देव लोग अपनी विशिष्ट दैविक शक्ति से आकाश स्थित बादल धूली, धुआँ आदि को दूर कर देते हैं । जिससे आकाश अत्यन्त निर्मल हो जाता है ।

(11) सम्पूर्ण जीव निरोगी होना:-

तीर्थकर के सातिशय पुण्य प्रभाव से, पुण्य पवित्रमय वातावरण से एवं देवों के विशेष प्रभाव से सम्पूर्ण जीव रोग बाधाओं से रहित हो जाते हैं । पूर्वकृत पुण्य प्रभाव से देवों को विशेष ऋद्धि प्राप्त होती है जिसके माध्यम से वे लोग अनुग्रह निग्रह करने में समर्थ हो जाते हैं । तार्किक चूडामणि अकलंक देव राजवार्तिक में बताते हैं—

शापानुग्रह लक्षणः प्रभावः ॥२॥

शापोऽनिष्टापादनम् अनुग्रह इष्ट प्रतिपादनम् तल्लक्षणः प्रवृद्धोभाव प्रभाव इत्याख्यायेत् ।

शाप और अनुग्रह शक्ति को प्रभाव कहते हैं । अनिष्ट वचनों का उच्चारण शाप है । इष्ट प्रतिपादन को अनुग्रह कहते हैं । शाप या अनुग्रह करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं; जो बढ़ा हुआ भाव हो, उसका नाम प्रभाव है । आयुर्वेद में वर्णन है कि कुछ रोग दैव प्रकोप से होता है, एवं देव प्रसन्न से अर्थात् उनके सूक्ष्म दैविक उपचार से अनेक रोग भी दूर हो जाते हैं । यह वर्णन कल्याणकारक में जैनाचार्य उग्रादित्य, बौद्ध आचार्य वाग्भट अष्टांग-हृदय में तथा हिन्दू आचार्य चरक, सुश्रुत अपने-अपने ग्रंथ में किये हैं-इसका वर्णन हमने भी धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान में किया है वहाँ से देखने का कष्ट करें ।

(12) धर्म चक्रः-

सहस्रारं हसदीत्प्या सहस्रकिरणद्युतिः ।

धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानारथानयोरभात् ॥२९॥

विहार करते हों, चाहे खड़े हों प्रत्येक दशा में श्री जिनेन्द्र के आगे, सूर्य के समान कान्ति वाला तथा अपनी दीपि से हजार आरे वाले चक्रवर्ती के चक्ररत्न की हँसी उड़ाता हुआ धर्म चक्र शोभायमान रहता था ।

जक्खिंदमत्थएसुं किरणुज्जलदिव्वधम्मचक्काणि ।

दट्टूण संठियाङ्गं चत्तारि जणस्स अण्छरिया ॥११२२॥

तिलोयपण्णति अ.४ पृ.२८०

यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित तथा किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म चक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है ।

सहस्रारस्फुरद्धर्म चक्र रत्नपुरः सरः ॥१२५६॥ आदि पुराण

तीर्थकर के आगे हजार आरे वाला देवीप्यमान धर्मचक्र चलता है । जिस प्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न के माध्यम से षड्खण्ड को विजय करता है उसी प्रकार धर्म चक्रवर्ती तीर्थकर भगवान् अन्तरंग सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्मचक्र (धर्म समूह) के माध्यम से अतंरंग सम्पूर्ण शत्रुओं को पराजय करके पहले स्वयं के ऊपर विजयी बने । जो आत्म विजयी

होता है, वह विश्व विजयी होता है। इस न्याय अनुसार तीर्थकर भगवान् आत्म विजयी होने के कारण विश्व विजयी होते हैं। उस धर्म विजय के बहिरंग चिन्ह स्वरूप एक हजार (1000) आरे वाला प्रकाशमान धर्मचक्र तीर्थकर के आगे-आगे अव्याघात रीति से चलता है।

चक्र अनेक प्रकार के होते हैं। प्राचीन साहित्य में एक अस्त्र विशेष को भी चक्र कहते थे जिनके माध्यम से चक्रवर्ती दिविजय करता है। युद्ध के समय में एक प्रकार की व्यूह रचना होती थी जिनका नाम चक्रव्यूह था। धर्म समूह को धर्म चक्र कहते हैं। धर्म चक्र के माध्यम से जब तीर्थकर अंतरंग समस्त शत्रुओं को परास्त करके आत्म विजयी होते हैं तब अंतरंग धर्मचक्र के चिन्ह स्वरूप मानो बहिरंग एक हजार आरे वाला देवीप्यमान धर्मचक्र तीर्थकर के सम्मुख चलता है। महान् तार्किक आचार्य कवि समंतभद्र र्खामी ने स्वयंभूस्त्रोत में विभिन्न चक्रों का अलंकार पूर्ण चमत्कार वर्णन अग्र प्रकार किये हैं।

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण

जित्वा नृपः सर्वनेरन्द्र चक्रम्।

समाधि चक्रेण पुनर्जिगाय,

महोदयो दुर्जय मोह चक्रम्॥77॥ स्वयंभूस्तोत्र

शान्तिनाथ तीर्थकर गृहस्थावस्था में भयंकर सुदर्शन चक्र रत्न के माध्यम से सम्पूर्ण नरेन्द्र चक्र (राज समूह) को जीतकर चक्रवर्ती पदवी को प्राप्त किये थे। सम्पूर्ण राजवैभव त्याग करके जब निर्ग्रन्थ मुनि बने तब समाधि चक्र (धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान समूह) से दुर्जय महाप्रभावशाली मोहचक्र (मोहनीय कर्म समूह) को जीतकर तीन लोक के अधीश्वर धर्मचक्री तीर्थकर बने।

यस्मिन्नभूद्वाजनि राज चक्रं,

मुनौ दयादीधिति धर्म चक्रम्।

पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं,

ध्यानोन्मुखे ध्यंसिकृतान्तचक्रम्॥79॥

जिस समय शान्तिनाथ तीर्थकर गृहस्थ अवस्था में एकाधिपति सम्भाट (चक्रवर्ती) थे, उस समय राजचक्र (राजा समूह) हाथ जोड़कर नम्र भाव से उनकी अधीनता स्वीकार किये थे। सर्वस्व त्याग करके जब वे मुनि अवस्था को धारण किये तब वे दयारुपी दैदीप्यमान, प्रकाश के धारण करने वाले धर्म चक्र उत्तम क्षमा, मार्जव, आर्जव, सत्य, शौच, सयंम, तप, त्याग, आकिन्चन्य, ब्रह्मचर्य सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, ध्यान आदि) को स्वयं के अधीन कर लिए अर्थात् वे सम्पूर्ण धर्म को सम्यक् रूप से पालन किये। धर्म चक्र के माध्यम से कृतांतै चक्र को ज्ञानावरण आदि कर्म को नष्ट करके सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाला ज्ञानचक्र (ज्ञान समूह अर्थात् अखण्ड केवल ज्ञान) को प्राप्त किये, उस समय 1000 आरे वाले प्रकाशमान धर्मचक्र तीर्थकर के अधीन हो गया। समवसरण में विराजमान होकर जब धर्मोपदेश देने लगे तब देवचक्र (देवसमूह) बद्धांजलि होकर भगवान् की भक्ति करने लगे। अंतिम योग-निरोध समय में ध्यानरुपी चक्र से कृतांत चक्र (चक्रसमूह) को विध्वंस करके अध्यात्म गुण धर्म चक्र (अध्यात्मिक गुण समूह) को प्राप्त हुए।

बौद्ध धर्म में भी वर्णन है कि गौतम बुद्ध जब बोधि प्राप्त किये तब से वे धर्मचक्र का प्रवर्तन किये। उसे धर्म चक्र के स्मरण स्वरूप अशोक ने अशोक स्तम्भ के ऊपर (सारनाथ के अशोक स्तम्भ) धर्मचक्र की प्रतिकृति बनायी थी। स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रीय चिन्ह यह अशोक स्तम्भ है। इस अशोक स्तम्भ में 24 आरे वाले चक्र के ऊपर चतुर्मुखी सिंह बैठा हुआ है। नीचे एक तरफ बैल है एक तरफ घोड़ा है। सूक्ष्म ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने में इसमें जैनों के बहुत कुछ संकेत रूप से इतिहास सिद्धान्त की गरिमा गाथा निहित है। 24 आरे जैनों के सुप्रसिद्ध 24 तीर्थकर के सूचना स्वरूप हैं। बैल जैन धर्म के वर्तमानकालीन आदि धर्म प्रवर्तक वृषभदेव (आदिनाथ) का लक्षण है। वृषभ का अर्थ धर्म और श्रेष्ठ होता है। बैल (वृषभ) बलभद्रता का प्रतीक है। वृषभ (साँड़) स्वातन्त्र्य प्रेमी का भी प्रतीक है क्योंकि साँड़ किसी के अधीन नहीं रहता। बैल शुभ का भी प्रतीक है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मिक सुख-शान्ति को योग कहते हैं। जैसे अरहन्त या सिद्ध

के अनन्त सुख क्षायिक भोग पाया जाता है।

जैनों के वर्तमानकालीन तृतीय तीर्थकर संभवनाथ भगवान् हैं। उनका लांछन घोड़ा है। घोड़ा तीव्र गमन का प्रतीक है। गमन अर्थात् आगे बढ़ना, उन्नति करना, उत्थान करना, उत्क्रान्ति करना आदि है।

जैनों के अन्तिम तीर्थकर ऐतिहासिक प्रसिद्ध बुद्ध के समकालीन महावीर भगवान् हैं उनके चिन्ह सिंह हैं। सिंह शौर्य, वीर्य, साहस, धर्म पराक्रम का प्रतीक है सम्पूर्ण तीर्थकर समवसरण में जिस आसन पर बैठते हैं उस आसन को चार सिंह की मूर्ति धारण करते हैं। सम्पूर्ण तीर्थकर के सिंहासन का प्रतीक ऊपर के चार सिंह हैं।

जब तक धर्म चक्र (धर्मसमूह) चलता रहता है तब तक जन-गण-मन में, देश-देश में, समाज राष्ट्र में व्यवस्था ठीक रूप से बनी रहती है तथा सुख शान्ति रहती है धर्म के साथ-साथ साहस निष्ठा, धैर्य, पराक्रम से जब आगे बढ़ते हैं तब अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

(13) चरण के नीचे कमलों की रचनादि होना—

जब तीर्थकर भगवान् जन-जन को पवित्र करने के लिए विश्व को सत्य, अहिंसा, प्रेम, मैत्री, समता का दिव्य अमर संदेश देने के लिए मंगल विहार करते हैं तब भक्ति वशतः देवलोग भगवान् के पावन चरण युगल के नीचे स्वर्ण कमल की रचना करते हैं।

उन्निद्रहेमनवपंकज पुञ्जकांति पर्युल्लसन्नखमयूख शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥36॥

(भक्तामर स्त्रोत)

हे जगतोद्धारक विश्व बन्धु तीर्थकर भगवान्। धर्मोपदेश देने के लिए जब आप मंगल विहार करते हैं तब आपके मंगलमय चरणकमल के नीचे देवगण विकसित, नवीन, प्रकाश-मय, सुन्दर, मनोहरी सुर्वण कमलों की रचना करते हैं।

मकरन्दरजोवर्षि प्रत्यग्रोदभिन्नकेसरम्।
विचित्ररत्ननिर्माणकर्णिकं विलसद्वलम् ॥(272)॥
(आ.पु.पर्व 25-पृ.633)

भगवच्चरणन्यासप्रदेशोऽधिनभःस्थलम्।

मृदुस्पर्शमुदारश्च पङ्कज हैममुद्वभौ ॥(273)॥

जो मकरन्द और पराग की वर्षा कर रहा है, जिसमें नवीन केसर उत्पन्न हुई है, जिसकी कर्णिका अनेक प्रकार के रत्नों से बनी हुई है, जिससे दल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, जिसका स्पर्श कोमल है और जो उत्कृष्ट शोभा से सहित है ऐसा स्वर्णमय कमलों का समूह आकाश तल में भगवान् के चरण रखने की जगह में सुशोभित हो रहा था।

पृष्ठतश्च पुरश्चारय पद्माः सम विकासिनः।

प्रादुर्बभूवुरुदग्निधसान्द्र किञ्चल्करेणवः ॥(274)

जिनकी केसर के रेणु उत्कृष्ट सुगन्धि से सान्द्र हैं, ऐसे वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवान् के आगे प्रकट हुए थे और सात पीछे।

तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यन्तेषु रेजिरे।

लक्ष्म्यावसथ सौधानि संचारीणीव खाङ्गणे ॥(275)

इसी प्रकार और कमल भी उन कमलों के समीप में सुशोभित हो रहे थे, और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाश में चलते हुए लक्ष्मी के रहने के भवन ही हों।

हेमाम्भोजमयां श्रेणीमलिश्रेणिभिरन्विताम्।

सुरा व्यरचयन्नेनां सुराजनिदेशतः ॥(276)

भ्रमरों की पंक्तियों से सहित इन सुवर्णमय कमलों की पंक्ति को देवलोग इन्द्र की आज्ञा से बना रहे थे।

रेजे राजीवराजी सा जिनपत्पङ्कजोन्मुखी।

आदित्यसुरिव तत्कान्तिमतिरेसुकादधःसुताम् ॥(277)

जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों के समुख हुई वह कमलों की पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अधिकता के कारण नीचे की ओर बहती हुई उनके चरण-कमलों की कान्ति ही प्राप्त करना चाहते हों।

ततिर्विहारपद्मानां जिनस्योपाङ्गि सा बभौ।
नमः सरसि संफुल्ला त्रिपञ्चककृतप्रमा ॥(278)

आकाश रूपी सरोवर में जिनेन्द्र भगवान् के चरणों के समीप प्रकुल्लित हुई वह विहार कमलों की पंक्ति पन्द्रह के वर्ग प्रमाण अर्थात् 225 कमलों की थी।

उस समय भगवान् के दिग्विजय के काल में सुवर्णमय कमलों से चारों ओर से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिसके कमल फूल रहे हों, ऐसा सरोवर ही हो। इस प्रकार समस्त जगत् के स्वामी भगवान् ऋषभदेव ने जगत् को आनन्दमय करते हुए तथा अपने वचनरूपी अमृत से सबको सन्तुष्ट करते हुए समस्त पृथ्वी पर विहार किया था। जन समूह की पीड़ा हरने वाले जिनेन्द्र रूपी सूर्य ने वचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्यात्वरूपी अहंकार के समूह को नष्ट कर समस्त जगत् प्रकाशित किया था। सुवर्णमय कमलों पर पैर रखने वाले भगवान् ने जहाँ-तहाँ से विहार किया वहीं-वहीं के भव्यों ने धर्मामृत रूपी जल की वर्षा से परम संतोष धारण किया था।

अष्टमहाप्रातिहार्य

(1) सिंहासन प्रातिहार्य-

सिंहासणं विसालं, विसुद्ध-फलिहोवलेहि णिम्मविदं।
वर-रयण-णियर-खचिदं, को सककइ वण्णिदुं ताणं ॥(931)

(ति.प.)

निर्मल स्फटिक-पाषाण से निर्मित और उत्कृष्ट रत्नों के समूह से खचित उन तीर्थकरों का जो विशाल सिंहासन होता है, उसका वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है।

हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

सिंहासनं नरेन्द्रौघैवतं त्यक्तवतो बभौ।
सिंहासनं जिनस्यान्यत्सुरेन्द्रपरिवारितम् ॥(37)
(पृ.26, 3 सर्ग)

यतश्च भगवान् ने राजाओं के समूह से घिरा हुआ सिंहासन छोड़ दिया था इसलिए उन्हें इन्हों से घिरा हुआ दूसरा सिंहासन प्राप्त हुआ था।

आदिपुराण में आचार्य श्री जिनसेन ने भी इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

उस गन्धकुटी के मध्य में धनपति ने एक सिंहासन बनाया था जो कि अनेक प्रकार के रत्नों के समूह से जड़ा हुआ था और मेरु पर्वत के शिखरों को तिरस्कृत कर रहा था। वह सिंहासन सुर्वण का बना हुआ था, ऊर्चाँ था, अतिशय शोभायुक्त था और अपनी कान्ति से सूर्य को भी लज्जित कर रहा था तथा ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करने के लिए सिंहासन के बहाने से सुमेरु पर्वत ही अपने कान्ति से दैदीप्यमान शिखर को ले आया हो। जिससे निकलती हुई किरणों से समस्त दिशाएँ व्याप्त हो रही थी, जो बड़े भारी ऐश्वर्य से प्रकाशमान हो रहा था, जिसका आकार लगे हुए सुन्दर रत्नों से अतिशय श्रेष्ठ था और जो नेत्रों को हरण करने वाला था ऐसा वह सिंहासन बहुत ही शोभायमान हो रहा था। जिसका आकार बहुत बड़ा और दैदीप्यमान था, जिससे कान्ति का समूह निकल रहा था, जो श्रेष्ठ रत्नों से प्रकाशमान था और जो अपनी शोभा से मेरु पर्वत की भी हँसी कर रहा था ऐसा वह सिंहासन बहुत अधिक सुशोभित हो रहा था। प्रथम तीर्थकर भगवान् वृषभदेव उस सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे। वे भगवान् अपने माहात्म्य से उस सिंहासन के तल से चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे उन्होंने उस सिंहासन के तल भाग को छुआ ही नहीं था। उसी सिंहासन पर विराजमान हुए भगवान् की इन्द्र आदि देव बड़ी-बड़ी पूजाओं के द्वारा परिचर्या कर रहे थे। और मेघों की तरह आकाश से पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। (पृ. 542)

सिंहासन का वर्णन तिलोय पण्णाति में निम्न प्रकार से किया है-

सिंहाणाणि मज्जे, गंधउडीणं सपाद-पीढाणि।
वर-फलिह-णिम्मिदाणि घंटा-जालादि रमाणि ॥(902)

गन्धकुटियों के मध्य पाद पीठ सहित, उत्तम स्फटिक मणियों से निर्मित

एवं घण्टाओं के समूहादिक से रमणीय सिंहासन होते हैं।

रथण-खचिदाणि ताणि, जिणिंद-उच्छेह-जोग-उदयाणि ॥(903)
रत्नों से खचित उन सिंहासनों की ऊँचाई जिनेन्द्र के योग्य हुआ करती है।

अरहन्तों की स्थिति सिंहासन से ऊपर-

चउरंगुलंतराले उवर्दि सिंहासणाणि अरहंता ।
चेष्टुंति गयण-मग्ने, लोयालोय-प्पयास-मत्तंडा ॥(904)

लोक-अलोक को प्रकाशित करने के लिए सूर्य सदृश भगवान् अरहन्तदेव उन सिंहासनों के ऊपर आकाशमार्ग में चार अंगुल के अन्तराल से स्थित रहते हैं।

(2) पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य

झण-झण-झणंत-छप्पय-छण्णा वरभक्ति-भरिद-सुरमुकका ।
णिवडेदि कुसुम-विडी, जिणिंद-पय-कमल-मूलेसुं ॥(934)(ति.प.)

झन-झन शब्द करते हुए भ्रमरों से व्यास एवं उत्तम भक्ति से युक्त देवों द्वारा छोड़ी हुई पुष्पवृष्टि भगवान् जिनेन्द्र के चरण कमलों के मूल में गिरती है।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

पुष्पवृष्टिभिरानप्रशिरोभिरमरैः करैः ।
आवर्जिताभिराकाशादाशाविश्वंभरा बभुः ॥(32)

(पृ.26, 3 सर्ग)

नम्रीभूत सिर को धारण करने वाले देव लोग अपने हाथों से जो पुष्पवृष्टियाँ छोड़ रहे थे उनसे समस्त दिशाओं की भूमियाँ सुशोभित हो रही थीं।

आदिपुराण में आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने भी इसका वर्णन निम्न प्रकार किया है - उसी सिंहासन पर विराजमान हुए भगवान् की इन्द्र आदि देव बड़ी-बड़ी पूजाओं-द्वारा परिचर्या कर रहे थे और मेघों की तरह आकाश से पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। मदोन्मत्त भ्रमरों के समूह से शब्दायमान तथा

आकाशरुपी ओंगन को व्यास करती हुई पुष्पों की वर्षा ऐसी जान पड़ रही थी मानों मनुष्यों के नेत्रों की माला ही हो। देवरुपी बादलों द्वारा छोड़ी जाकर पड़ती हुई पुष्पों की वर्षा ने बारह योजन तक के भू भाग को पराग (धूलि) से व्यास कर दिया था, यह एक भारी आश्चर्य की बात थी। भावार्थ यहाँ पहले विरोध मालुम होता है क्योंकि वर्षा से तो धूलि शान्त होती है न कि बढ़ती है परन्तु जब इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि वह पुष्पों की वर्षा थी और उसने भू भाग को पराग अर्थात् पुष्पों के भीतर रहने वाले केशर के छोटे-छोटे कणों से व्यास कर दिया था तब वह विरोध दूर हो जाता है यह विरोधालंकार कहलाता है। स्त्रियों को सन्तुष्ट करने वाली वह फूलों की वर्षा भगवान् के समीप में पड़ रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानों स्त्रियों के नेत्रों की सन्तति ही भगवान् के समीप पड़ रही हो। भ्रमरों के समूहों के द्वारा फैलाये हुए फूलों के पराग से सहित तथा देवों के द्वारा बरसायी वह पुष्पों की वर्षा बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी। जो गंगा नदी के शीतल जल से भीगी हुई है, जो अनेक भ्रमरों से व्यास है और जिसकी सुगन्धि चारों ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पों की वर्षा भगवान् के आगे पड़ रही थी। (पृ. 543)

(3) अशोक वृक्ष प्रातिहार्य-

जेसिं तरुण-मूले, उप्पणं जाण केवलं णाणं ।

उसह-प्पहुदि-जिणाणं, ते चिय असोय-रुक्ख त्ति ॥(924)

ति.प.

ऋषभादि तीर्थकरों को जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वे ही अशोक वृक्ष हैं।

णगोह-सत्तप्णं, सालं सरलं पियंगु तच्चेव ।

सिरिसं णागतरु वि य, अक्खा धूलीपलास तेंदूवं ॥(925)

पाडल-जंबू पिप्पल-दहिवणो णंदि-तिलय-चूदा य ।

कंकेलि-चंप-बउलं, मेसयसिंगं धवं सालं ॥(926)

सोहंति असोय-तरु, पल्लव-कुसुमाणदाहि साहाहिं ।

लंबंत-मुत्त-दामा, घंटा-जालादि-रमणिज्जा ॥(927)

(1) न्यग्रोध (2) समर्पण (3) शाल (4) सरल (5) प्रियंगु (6) प्रियंगु (7) शिरिष (8) नागवृक्ष (9) अक्ष (बहेड़ा) (10) धूलिपलाश (11) तेंदू (12) पाटल (13) जम्बू (14) पीपल (15) दधिपर्ण (16) नन्दी (17) तिलक (18) आम्र (19) कंकेलि (अशोक) (20) चम्पक (21) बकुल (22) मेषशृङ्ग (23) धव और (24) शाल, ये तीर्थकरों के अशोक वृक्ष हैं। लटकती हुई मोतियों की मालाओं और घण्टासमूहादिक से रमणीय तथा पल्लवों एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओं वाले ये सब अशोक वृक्ष अत्यन्त शोभायमान होते हैं।

णिय-णिय-जिण-उदएहिं, बारस-गुणिदेण सरिस-उच्छेहा।
उसह-जिण-प्पहुदीणं, असोय-रुक्खा विरायंति ॥(928)

ऋषभादिक तीर्थकरों के उपर्युक्त चौबीस अशोकवृक्ष अपने-अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारह गुणे ऊँचे शोभायमान हैं।

किं वण्णणेण बहुणा, दद्वृणमसोय-पादवे एदे।

णिय-उज्जाण-वणेसुं ण रमदि चित्तं सुरेसस्स ॥(929)

बहुत वर्णन से क्या ? इन अशोक वृक्षों को देखकर इन्द्र का भी चित्त अपने उद्यान-वनों में नहीं रमता है।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है—

अशोकनगमाभासीदशोकानौकहश्रिया।
नमदभुवनमाकाशं महत्वं किमतः परम् ॥(31)

(पृ.26, 3 सर्ग)

अष्ट प्रातिहार्यों में प्रथम प्रातिहार्य अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अशोकवृक्ष की शोभा के बहाने समस्त संसार अथवा आकाश ही भगवान् को नमस्कार कर रहा हो इससे अधिक और महत्व क्या हो सकता है ?

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है—

भगवान् के समीप ही एक अशोक वृक्ष था जो कि मरकतमणि के बने

हुए हरे-हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-चित्र फूलों से सहित था तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखाओं को धारण कर रहा था। वह अशोक वृक्ष मद से मधुर शब्द करते हुए भ्रमरों और कोयलों से समस्त दिशाओं को शब्दायमान कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् की स्तुति ही कर रहा हो। वह अशोक वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखारूपी भुजाओं के चलाने से ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के आगे नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पों के समूहों से ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के आगे दैदीप्यमान पुष्पाञ्जलि ही प्रकट कर रहा हो। (पृ. 543, 23 पर्व)

रेजेऽशोकतरुरसौ रुन्धन्मार्ग व्योमचर महेशानाम्।
तन्वन्योजनविस्तृताः शाखा धुन्वन् शोकमयमदो ध्वान्तम् ॥(39)

आकाश में चलने वाले देव और विद्याधरों के स्वामियों का मार्ग रोकता हुआ अपनी एक योजन विस्तार वाली शाखाओं को फैलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकार को नष्करता हुआ वह अशोक वृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था।

सर्वा हरितो विटपैस्ततैः संमार्दुमिवोद्यतधीरसौ।
व्यायद्विकचैः कुसुमोत्करेः पुष्पोपहृतिं विदधदद्वुमः ॥(40)

फूले हुए पुष्पों के समूह से भगवान् के लिए पुष्पों का उपहार समर्पण करता हुआ वह वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओं से समस्त दिशाओं को व्याप कर रहा था और उससे ऐसा जाना पड़ता था मानो उन फैली हुई शाखाओं से दिशाओं को साफ करने के लिए ही तैयार हुआ हो।

वज्रमूलबद्धरत्नं बुधनं सज्जपा भरत्नचित्रसूनम्।
मत्तकोकिलालिसेव्यमेनं चक्ररग्यमङ्गिपं सुरेशाः ॥(41)

जिसकी जड़ वज्र की बनी हुई थी, जिसका मूल भाग रत्नों से दैदीप्यमान था, जिसके अनेक प्रकार के पुष्प जपापुष्प इकी कान्ति के समान पद्मरागमणियों के बने हुए थे और जो मदोन्मत्त कोयल तथा भ्रमरों से सेवित था ऐसे उस वृक्ष को इन्द्र ने सब वृक्षों में मुख्य बनाया था।

तीन छत्र प्रातिहार्य

ससि-मण्डल-संकासं, मुक्ताजाल-प्पयास संजुत्तं।
छत्रत्रयं विरायदि सव्वाणं तित्थ-कत्ताणं ॥(930)

चन्द्र-मण्डल सदृश और मुक्ता-समूहों के प्रकाश से संयुक्त तीन छत्र सब तीर्थकरों के (मस्तकों पर) शोभायमान होते हैं।
हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

एकातपत्रमैश्वर्यं भुवि मुक्तवतोऽर्हतः।
आतपत्रत्रयैश्वर्यमाबभौ भुवनत्रये ॥(36)

जिसमें एक छत्र लगाया जाता है ऐसे पृथिवी के ऐश्वर्य को त्याग करने वाले भगवान् के छत्र त्रय से युक्त तीन लोक का ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जान पड़ता था।

आदि पुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

भगवान् के ऊपर जो दैदीप्यमान सफेद छत्र लगा हुआ था उसने चन्द्रमा की लक्ष्मी को जीत लिया था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीनों लोकों के स्वामी भगवान् वृषभदेव की सेवा करने के लिए तीन रूप धारण कर चन्द्रमा ही आया हो। वे तीनों सफेद छत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छत्र का आकार धारण करने वाले चन्द्रमा के बिन्दु ही हों, उनमें जो मोतियों के समूह लगे हुए थे वे किरणों के समान जान पड़ते थे इस प्रकार उस छत्र-त्रितय को कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से बनाया था। वह छत्रत्रय उदय होते हुए सूर्य की शोभा की हँसी उड़ानेवाले अनेक उत्तम-उत्तम रत्नों से जड़ा हुआ था तथा अतिशय निर्मल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रमा और सूर्य के सम्पर्क (मेल) से ही बना हो। जिसमें अनेक उत्तम मोती लगे हुए थे, जो समुद्र के जल के समान जान पड़ता था, बहुत ही सुशोभित था, चन्द्रमा की कान्ति को हरण करने वाला था, मनोहर था और जिसमें इन्द्रनील मणि भी दैदीप्यमान हो रहे थे ऐसा वह छत्र त्रय भगवान् के समीप आकर उत्कृष्ट कान्ति को धारण कर रहा था। क्या यह जगत्‌रूपी

लक्ष्मी का हास्य फैल रहा है? अथवा भगवान् का शोभायमान यशरूपी गुण हैं? अथवा धर्मरूपी राजा का मन्द हास्य है? अथवा तीनों लोकों में आनन्द करने वाला कलंकरहित चन्द्रमा है, इस प्रकार लोगों के मन में तर्क-वितर्क उत्पन्न करता हुआ वह दैदीप्यमान छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मोहरूपी शत्रु को जीत लेने से इकट्ठा हुआ तथा तीन रूप धारण कर ठहरा हुआ भगवान् के यश का मण्डल ही हो। (पृ. 544, 23 पर्व)

(5) चमर प्रातिहार्य-

चउसड्हि-चामरेहिं, मुणाल-कुंदेंदु-संख-धवलेहिं।
सुर-कर-पलविवदेहिं विज्जिज्जंता जयंतु जिणा ॥ (936)

(ति.प.)

देवों के हाथों से झुलाये (ढोरे) गये मृणाल, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा एवं शङ्ख सदृश सफेद चौंसठ चमरों से वीज्यमान जिनेन्द्र भगवान् जयवन्त होवें।

हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

चतुर्तिक्षु चतुःषष्ठिचमरैर्जिनः।

वीजितोऽभात् पतदगागंतरंगैहिमवानिव ॥(33)

(पृ.26, 3 सर्ग)

चारों दिशाओं में देवों द्वारा चौंसठ चमरों से वीजित भगवान् उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि पड़ती हुई गंगा की तरंगों से हिमगिरि सुशोभित होता है।

आदि पुराण में जिनसेन जी ने भी इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

जिनेन्द्र भगवान् के समीप में सेवा करने वाले यक्षों के हाथों के समूहों से जो चारों और चमरों के समूह ढुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसागर के जल के समूह ही हों। अत्यन्त निर्मल लक्ष्मी को धारण करने वाला वह चमरों का समूह ऐसा जान पड़ता था मानो अमृत के टुकड़ों

से ही बना हो अथवा चन्द्रमा के अंशों से ही रचा गया हो तथा वही चमरों के समूह भगवान् के चरणकमलों के समीप पहुँचकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी पर्वत से झरते हुए निर्झर ही हों। यक्षों के द्वारा लीलापूर्वक चारों ओर दुराये जाने वाले निर्मल चमरों की वह पंक्ति बड़ी ही सुशोभित हो रही थी और लोग उसे देखकर ऐसा तर्क किया करते थे मानो यह आकाश गङ्गा ही भगवान् की सेवा के लिए आयी हो। शरदकृतु के चन्द्रमा के समान सफेद पड़ती हुई वह चमरों की पंक्ति ऐसी आशंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवान् के शरीर की कान्ति ही ऊपर को जा रही है अथवा चन्द्रमा की किरणों का समूह ही नीचे की ओर पड़ रहा है। अमृत के समान निर्मल शरीर को धारण करनेवाली और अतिशय दैदीप्यमान वह दुरती हुई चमरों की पंक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वायु से कम्पित तथा दैदीप्यमान कान्ति को धारण करने वाली हिलती हुई और समुद्र के फेन की पंक्ति ही हो। चन्द्रमा और अमृत के समान कान्तिवाली ऊपर से पड़ती हुई वह उत्तम चमरों की पंक्ति बड़ी उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करने की इच्छा से आती हुई क्षीर-समुद्र की वेला ही हो। क्या ये आकाश से हँस उत्तर रहे हैं अथवा भगवान् यश ही ऊपर को जा रहा है इस प्रकार देवों के द्वारा शंका किये जानेवाले वे सफेद चमर भगवान् के चारों ओर दुराये जा रहे थे।

जिस प्रकार वायु समुद्र के आगे अनेक लहरों के समूह उठाता रहता है उसी प्रकार कमल के समान दीर्घ नेत्रों को धारण करने वाले चतुर यक्ष भगवान् के आगे लीलापूर्वक विस्तृत और सफेद चमरों के समूह उठा रहे थे अर्थात् ऊपर की ओर ढोर रहे थे। अथवा वह ऊँची चमरों की पंक्ति ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो उन चमरों का बहाना प्राप्त कर जिनेन्द्र भगवान् की भक्तिवश आकाश गंगा ही आकाश से उत्तर रही हो अथवा भव्य जीवरूपी कुमुदिनियों को विकसित करने के लिए चाँदनी ही नीचे की ओर आ रही हो। इस प्रकार जिन्हें अतिशय संतोष प्राप्त हो रहा है और जिनके नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्षों के द्वारा दुराये जानेवाले वे चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्ति के धारक चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्

के गुणसमूहों के साथ स्पर्धा ही कर रहे हों। शोभायमान अमृत की राशि के समान निर्मल और अपरिमित तेज तथा कान्ति को धारण करने वाले वे चमर भगवान् वृषभदेव के अद्वितीय जगत् के प्रभुत्व को सूचित कर रहे थे। जिनका वक्षःस्थल लक्ष्मी से आलिंगित है और जो श्री वृक्ष का चिन्ह धारण करते हैं ऐसे श्री जिनेन्द्र देव के अपरिमित तेज को धारण करने वाले उन चमरों की संख्या विद्वान लोग चौसठ बतलाते हैं।

**जिनेश्वराणामिति चमराणि प्रकीर्तितानीह सनातनानाम्।
अर्धार्धमानानि भवन्ति तानि चक्रेश्वराद् यावदसौ सुराजा ॥(60)**

इस प्रकार सनातन भगवान् जिनेन्द्रदेव के चौसठ चमर कहे गये हैं और वे ही चमर चक्रवर्ती से लेकर राजा पर्यन्त आधे-आधे होते हैं अर्थात् चक्रवर्ती के बत्तीस, अर्धचक्री के सोलह, मण्डलेश्वर के आठ, अर्धमण्डलेश्वर के चार, महाराज के दो और राजा के एक चमर होता है। (पृ.545)

(6) दुन्दुभिवाद्य प्रातिहार्य

विषय-कसायासत्ता, हृद-मोहा पविस जिणपू सरणं।
कहिदुं वा भव्याणं, गहिरं सुर-दुन्दुभी सरङ् ॥(933) (ति.प.)

“विषय-कषायों में आसक्त (हे जीवों) मोह से रहित होकर जिनेन्द्र प्रभु की शरण में जाओ,” भव्य जीवों को ऐसा कहने के लिए ही मानो देवों का दुन्दुभी बाजा गम्भीर शब्द करता है।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

धीरमध्यनि देवानां जजृम्भे दुन्दुभिध्वनिः।
कर्मशत्रुजयं जैनं घोषयन्निव विष्टपे ॥(35)
(पृ.26, 3 सर्ग)

देवों के मार्ग अर्थात् आकाश में दुन्दुभियों का शब्द इस गम्भीरता से फैल रहा था मानो वह संसार में इस बात की घोषणा ही कर रहा था कि श्री जिनेन्द्र देव कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर चुके हैं।

आदि पुराण में आचार्य जिनसेन जी ने इसका वर्णन निम्न प्रकार किया

है।

सुरदुन्दुभयो मधुरध्वनयो निनदन्ति सदा स्म नभोविवरे।
जलदागमशङ्किभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परिवीक्षितपद्धतयः॥(61)
(पृ.547)

इसी प्रकार उस समय वर्षाक्रतु की शंका करते हुए मदोन्मत्त मधूर जिनका मार्ग बड़े प्रेम से देख रहे थे ऐसे देवों के दुन्दुभी मधुर शब्द करते हुए आकाश में बज रहे थे।

पणवस्तुणवैः कलमन्द्ररुतैः सहकाहलशङ्कमहापटहैः।
ध्वनिरुत्सर्जे ककुभां विवरं मुखरं विदधत् पिदधच्च नभः॥(62)

जिनका शब्द अत्यन्त मधुर और गम्भीर था ऐसे पणव, तुणव, काहल, शंख और नगाड़े आदि बाजे समस्त दिशाओं के मध्यभाग को शब्दायमान करते हुए तथा आकाश को आच्छादित करते हुए शब्द कर रहे थे।

देवरूप शिल्पियों के द्वारा मजबूत दण्डों से ताढ़ित हुए वे देवों के नगाड़े जो शब्द कर रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कुपित होकर स्पष्ट शब्दों में यही कर रहे हों कि अरे दुष्टों, तुम लोग जोर-जोर से क्यों मार रहे हो। क्या यह मेघों की गर्जना है? अथवा जिसमें उठती हुई लहरें शब्द कर रही हैं ऐसा समुद्र ही क्षोभ को प्राप्त हुआ है? इस प्रकार तर्क-वितर्क कर चारों ओर फैलता हुआ भगवान् के देव दुन्दुभियों का शब्द सदा जयवन्त रहे।

(7) प्रभामण्डल प्रातिहार्य

भव-सग दंसण-हेदुं, दरिसण-मेत्तेण सयल-लोयस्स।
भामंडलं जिणाणं, रवि-कोडि-समुज्जले जयइ॥(935)
(ति.प.पृ.253)

जो दर्शन-मात्र से ही सब लोगों को अपने-अपने सात भव देखने में निमित्त है और करोड़ों सूर्यों के सदृश उज्ज्वल है तीर्थकरों का ऐसा वह प्रभामण्डल जयवन्त होता है।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा भी है:-

अभिभूयाबभौ धाम्ना मण्डलं चण्डरोचिषः।
प्रभामण्डलमीशर्य प्रधवस्ताहर्निशान्तरम्॥(34)

(पृ.26, 3 सर्ग)

जिसने रात-दिन का अन्तर दूर कर दिया था ऐसा भगवान् का भामण्डल, अपने तेज से सूर्य मण्डल को अभिभूत कर-दबाकर सुशोभित हो रहा था।

आदि पुराण में आचार्य जिनसेन जी ने भी इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समवादिसृतेः।
रुरुचे ससुरासुरमर्त्यजनाः किमिवाद्भुतमीदृशि धाम्नि विभोः॥(65)

(पृ.548)

सुर, असुर और मनुष्यों से भरी हुई वह समवरण की समस्त भूमि जिनेन्द्र भगवान् के शरीर से उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा अर्थात् भामण्डल से बहुत ही सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् के ऐसे तेज में आश्चर्य ही क्या है।

तरुणार्करुचिं नु तिरोदधति सुरकोटिमहांसि नु निर्धुनती।
जगदेकमहोद यमासृजति प्रथते स्म तदा जिनदेहरुचिः॥(66)

उस समय वह जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की प्रभा मध्याह के सूर्य को प्रभा को तिरोहित करती हुई-अपने प्रकाश में उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवों के तेज को दूर हटाती हुई, और लोक में भगवान् का बड़ा भारी ऐश्वर्य प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी।

जिनदेहरुचावमृताब्धिशुचौ सुरदानवमर्त्यजना ददशुः।
स्वभवान्तरसमकमात्तमुदो जगतो बहु मङ्गलदर्पणके॥(67)

अमृत के समुद्र के समान निर्मल और जगत् को अनेक मंगल करने वाले दर्पण के समान, भगवान् के शरीर की उस प्रभा (प्रभामण्डल) में सुर,

असुर और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने सात-सात भव देखते थे।

विधुमाशु विलोक्य नु विश्वसृजो गतमातपवारणतां त्रितयीम्।
रविरिद्ध वपुः स पुराणकविं समशिश्रियदङ्गविभानिभतः ॥(68)

'चन्द्रमा' शीघ्र ही भगवान् के छत्रत्रय की अवस्था को प्राप्त हो गया है' यह देखकर ही मानो अतिशय दैदीप्यमान सूर्य भगवान् के शरीर की प्रभा के छल से पुराण कवि भगवान् वृषभदेव की सेवा करने लगा था। भगवान् का छत्रत्रय चन्द्रमा के समान था और प्रभामण्डल सूर्य के समान था।

(8) भक्ति युक्त गणों द्वारा वेष्टित प्रातिहार्य-

णिव्भर-भक्ति-पसत्ता, अंजलि-हत्था पफुल्ल-मुह कमला।

चेद्वंति गण सब्वे एककेकं वेढिउण जिण ॥(932)

(ति.प.)

गाढ़ भक्ति में आसक्त, हाथ जोड़े हुए एवं विकसित मुख कमल से संयुक्त सम्पूर्ण (द्वादश) गण प्रत्येक तीर्थकर को घेर कर (बारह सभाओं में) स्थित रहते हैं।

ऋषभादि तीर्थकरों के यक्ष

गोवदण-महाजक्खा तिमुहो जक्खेसरो य तुंबुरओ।

मादंग-विजय-अजियो, बम्हो बम्हेसरो य कोमारो ॥(943)

(ति.प.)

छम्मुहओ पादालो, किण्णर-किंपुरिस-गरुड-गंधव्वा।

तह य कुबेरो वरुणो, भकुडी-गोमेध-पास-मातंगा ॥(944)

गुज्जकओ इदि एदे, जक्खा चउबीस उसह-पहुदीहिं।

तित्थयराणं पासे, चेद्वंते भक्ति-संजुता ॥(945)

(1) गोवदन (2) महायक्ष (3) त्रिमुख (4) यक्षेश्वर (5) तुम्बुख
(6) मातंग (7) विजय (8) अजित (9) ब्रह्म (10) ब्रह्मोत्तर (11) कुमार
(12) षण्मुख (13) पाताल (14) किन्नर (15) किम्पुरुष (16) गरुड
(17) गन्धर्व (18) कुबेर (19) वरुण (20) भृकुटि (21) गोमेध (22)

पाश्व (23) मातंग और (24) गुह्यक, भक्ति से संयुक्त चौबीस यक्ष ऋषभादिक तीर्थकरों के पास स्थित रहते हैं।

ऋषभादि तीर्थकरों की यक्षिणियाँ

जक्खीओ चक्केसरि-रोहिणि-पण्णति-वज्जसिंखलया।

वज्जंकुसा य अप्पदिचक्केसरि-पुरिसदत्ता य ॥(946)

मणवेगा-कालीओ, तह जालामालिणी महाकाली।

गउरी-गंधारीओ, वेरोटी णामया अणंदमदी ॥(947)

माणसि-महमाणसिया, जया य विजयापराजिदाओ य।

बहुरूपिणि-कुंभंडी, पउमा-सिद्धायिणीओ त्ति ॥(948)

(1) चक्रेश्वरी (2) रोहिणी (3) प्रज्ञाति (4) वज्जश्रृंखला (5) वज्जांकुशा

(6) अप्रति-चक्रेश्वरी (7) पुरुषदत्ता (8) मनोवेगा (9) काली (10)

ज्वालामालिनी (11) महाकाली (12) गौरी (13) गान्धारी (14) वैरोटी

(15) अनन्तमती (16) मानसी (17) महामानसी (18) जया (19) विजया

(20) अपराजिता (21) बहुरूपिणी (22) कूष्माण्डी (23) पद्मा और (24)

सिद्धायिणी ये यक्षिणियाँ भी क्रमशः ऋषभादिक चौबीस तीर्थकरों के समीप रहा करती हैं।

प्रत्येक तीर्थकर के गणधरों की संख्या

चउसीदि णउदि पण-तिग-सोलस-एककारसुत्तर-सयाइं।

पणणउदी ते-णउदी, गणहरदेवा हु अट्ठ-परियंतं ॥(970)

आठवें तीर्थकर पर्यन्त क्रमशः चौरासी, नब्बे, एकसौ पाँच, एकसौ तीन, एकसौ सौलह, एकसौ ग्यारह, पंचानवे और तेरानवे गणधर देव थे।

यथा - उ 84 अ 90, सं 105, णं 103, सु.116 प. 111 सु 95, चं.93

अडसीदी सगसीदी, सत्तत्तरि छक्क-समहिया सट्टी।

पणवण्णा पण्णासा, तत्तो य अणंत-परियंतं ॥(971)

अनन्तनाथ तीर्थकर पर्यन्त क्रमशः अठासी, सतासी, सतत्तर,

छियासठ, पचपन और पचास गणधर थे।

तथा - पु 88 सी 87, से 77, वासु 66 वि 55 अणं 50

तेदालं छत्तीसा, पणतीसा तीस अड्डवीसा य।
अड्डारस सत्तरसेककारस-दस-एककरस य वीरंतं ॥(972)

धर्मनाथ से वीर जिनेन्द्र पर्यन्त क्रमशः तैतालीस, छत्तीस, पैंतीस, तीस, अड्डाईस, अठारह, सत्तरह, ग्यारह, दश और ग्यारह गणधर थे।

यथा-ध. 43, संति 36, कुंथु 35, अर 30, म. 28, मु 18, ण 17, ण 11, पा 10, वीर 11

ऋषभादि तीर्थकरों के आद्य गणधरों के नाम

'पढ़मो हु उसहसेणो, केसरिसेणो य चारुदत्तो य।
वज्जचमरो य वज्जो, चमरो बलदत्त-वेदब्धा ॥(973)
णागो कुंथु धम्मो, मन्दिरणामा जओ अरिष्ठो य।
सेणो चक्कायुहयो, सयंभू कुंभो विशाखो य ॥(974)
मल्लीणामो सोमा-वरदत्त सयंभु-इंद्रभूदीओ।
उसहादीण आदिम-गणहर णामाणि एदाणि ॥(975)

(1) ऋषभसेन (2) केशरि (सिंह) सेन (3) चारुदत्त (4) वज्जचमर (5) वज (6) चमर (7) बलदत्त (बलिदत्तक) (8) वैदर्भ (9) नाग (अनगार) (10) कुन्थु (11) धर्म (12) मन्दिर (13) जय (14) अरिष्ठ (15) सेन (अरिष्ठसेन) (16) चक्रायुध (17) स्वयंभू (18) कुम्भ (कुन्थु) (19) विशाख (20) मल्लि (21) सोमक (22) वरदत्त (23) स्वयंभू और (24) इन्द्रभूति ये क्रमशः ऋषभादि तीर्थकरों के प्रथम गणधरों के नाम हैं।

(तिलोयपण्णती पृ.290)

अध्याय 2

समवसरण के 31 विभाग

सामण्णभूमि-माणं, माणं सोवाणयाण विणासो।
वीही धूलीसाला, चेत्तप्पासाद-भूमीओ ॥(720)
णट्यसाला थंभा, वेदी खादी य वेदि-वल्लि-खिदी।
साला उववण-वसुहा, णट्यसाला य वेदि-धय-खोणी ॥(721)
सालो कप्पमहीओ, णट्यसाला य वेदि - भवणमही।
थूहा साला सिरिमंडप य बारस-गणाण विणासो ॥(722)
वेदी पढमं बिदियं, तदियं पीढं च गंधउडि-माणं।
इदि इगितीसा पुह पुह, अहियारा समवसरणाण ॥(723) ति.प.

1. सामान्य भूमिका का प्रमाण, 2. सोपानों का प्रमाण, 3. विन्यास,
4. वीथी, 5. धूलिशाल, 6. चैत्यप्रासाद-भूमियाँ, 7. नृत्यशाला, 8. मानस्तम्भ,
9. वेदी, 10. खातिका, 11. वेदी, 12. लताभूमि, 13. साल, 14. उपवनभूमि,
15. नृत्यशाला, 16. वेदी, 17. ध्वज-क्षोणी, 18. साल, 19. कल्पभूमि,
20. नृत्यशाला, 21. वेदी, 22. भवनमही, 23. स्तूप, 24. साल, 25. श्री मण्डप, 26. बारह सभाओं की रचना, 27. वेदी, 28. पीठ, 29. द्वितीय पीठ, 30. तृतीय पीठ और 31. गंधकुटी का प्रमाण।

इस प्रकार समवसरण के कथन में पृथक्-पृथक् ये इकतीस अधिकार हैं।

समवसरण का लक्षण

सभेत्यावसरावेक्षारितष्टन्त्यारिमन् सुरासुराः।
इति तज्जैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिकम् ॥(73)

म.पु.प.33

इसमें सामर्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिये गणधरादि देवों ने इसका समोशरण ऐसा सार्थक नाम कहा है।

(1) सामान्य भूमि

रविमंडलव वटा, सयला वि अखण्ड-इंदणीलमई।
सामण्ण-खिदी बारस, जोयण-मेत्तं मि उसहस्स ॥(724)
तत्तो बे-कोसूणो, पत्तेयं णेमिणाह-पज्जंतं।
चउभागेण विहीणा, पासस्स य वङ्घमाणस्स ॥(725)

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण की सम्पूर्ण सामान्य-भूमि सूर्यमण्डल के सदृश गोल, अखण्ड, इन्द्रनीलमणिमयी तथा बारह योजन प्रमाण विस्तार ये युक्त थी। इसके आगे नेमिनाथ पर्यंत प्रत्येक तीर्थङ्कर के समवसरण की सामान्य भूमि दो कोस कम तथा पार्श्वनाथ एवं वर्धमान तीर्थकर की योजन के चतुर्थ भाग से (1/4 यो.) कम थी। यथा (1) ऋषभदेव 12 योजन, (2) अजिय 23/2, (3) सं 11, (4) अहिंण 21/2, (5) सु 10, (6) प. 19/2, (7) सु 9, (8) चं 17/2, (9) पु 8, (10) सी. 15/2, (11) से 7, (12) बा. 13/2, (13) वि 6, (14) अ 11/2, (15) ध 5, (16) सं 9/2, (17) कुं 4, (18) अ 7/2, (19) म 3, (20) मुं 5/2, (21) ण 2, (22) णे 3/2, (23) पा 5/4, (24) वी 1।

उत्सर्पिणीकाल सम्बन्धी समवसरणों का प्रमाण

अवसप्तिणीए एदं, भणिदं उत्सर्पिणीए विवरीयं।
बारस-जोयण-मेत्ता, सयल-विदेह-तित्थ-कत्ताणं ॥(726)

यह जो सामान्य भूमिका प्रमाण बतलाया गया है, वह अवसर्पिणी काल का है। उत्सर्पिणी काल में इससे विपरीत है। विदेह क्षेत्र के सभी तीर्थङ्करों के समवसरण की भूमि बारह योजन प्रगाण ही रहती है। यथा (1) आदिनाथ के 1 योजन, (2) 5/4, (3) 3/2, (4) 2, (5) 5/2, (6) 3, (7) 7/2, (8) 4, (9) 9/2, (10) 5, (11) 11/2, (12) 6, (13)

13/2, (14) 7, (15) 15/2, (16) 8, (17) 17/2, (18) 9, (19) 19/2, (20) 10, (21) 21/2, (22) 11, (23) 23/2, (24) 12।

मतान्तर से समवसरण का प्रमाण

इह कैई आइरिया, पण्णारस-कम्भूमि-जादाणं।
तित्थयराणं बारस जोयण-परिमाण-मिच्छंति ॥(727)

यहाँ कोई आचार्य पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए तीर्थङ्करों की समवसरण भूमि को बारह योजन प्रमाण मानते हैं।

(2) सोपान

सुर-णर-तिरियारोहण-सोवाणा चउदिसासु पत्तेयं।
वीर-सहस्रा गयणे, कणयमया उङ्घ-उङ्घम्मि ॥(728)
(ति.प.पृ.207)

देवों, मनुष्यों और तिर्यक्षों के चढ़ने के लिए आकाश में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर स्वर्णमय बीस-बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं।

उसहादी चउवीसं, जोयण एककूण णेमि-पज्जंतं।
चउवीसं भजिदव्वा, दीहं सोवाण णादव्वा ॥(729)

ऋषभदेव के (समवसरण में) सोपानों की लम्बाई 24 से भाजित चौबीस योजन है। पश्चात् नेमिनाथ पर्यन्त (भाज्य राशि में से) क्रमशः एक-एक योजन कम होती गई है। यथा (1) आदिनाथ 24/24, (2) 23/24, (3) 22/24, (4) 21/24, (5) 20/24, (6) 19/24, (7) 18/24, (8) 17/24, (9) 16/24, (10) 15/24, (11) 14/24, (12) 13/24, (13) 12/24, (14) 11/24, (15) 10/24, (16) 9/24, (17) 8/24, (18) 7/24, (19) 6/24, (20) 5/24, (21) 4/24, (22) 3/24।

पासमि पंच कोसा, चउ बीरे अडुताल-अवहरिदा ।
इगि-हत्थुच्छेहा ते, सोवाणा एक-हत्थ-वासा य ॥(730)

भगवान् पाश्वनाथ के समवसरण में सीढ़ियों की लम्बाई अडतालीस से भाजित पाँच कोस और वीरनाथ के अडतालीस से भाजित चार कोस प्रमाण थी । वे सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची और एक ही हाथ विस्तारवाली थी । यथा— (23) 5/48, (24) 4/48, उह 1, दीह 1 ।

(3) समवसरणों का विन्यास

चउ साला वेदीओ, पंच तदंतेसु अडु भूमीओ ।
सव्वब्मंतरभागे, पत्तेकं तिण्णि पीढाणि ॥(731)
(ति.प.पृष्ठ 208)

चार कोट, पाँच वेदियाँ; इनके बीच आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक के अन्तरभाग में तीन पीठ होते हैं ।

(4) समवरणस्थ वीथियों का निरूपण—

पत्तेकं चउसंखा, वीहीओ पढम-पीढ-पज्जंता ।
णिय-णिय-जिण-सोवाणय-दीहत्तण-सरिस-वित्थारा ॥(732)

प्रथम पीठ पर्यन्त प्रत्येक में अपने-अपने तीर्थङ्कर के समवसरण भूमिस्थ सोपानों की लम्बाई के बराबर विस्तार वाली चार वीथियाँ होती हैं । यथा (1) आदिनाथ 24/24 योजन, (2) 23/24, (3) 22/24, (4) 21/24, (5) 20/24, (6) 19/24, (7) 18/24, (8) 17/24, (9) 16/24, (10) 15/24, (11) 14/24, (12) 13/24, (13) 12/24, (14) 11/24, (15) 10/24, (16) 9/24, (17) 8/24, (18) 7/24, (19) 6/24, (20) 5/24, (21) 4/24, (22) 3/24, (23) 5/48, (24) 4/48 ।

एकेवकाणं दो-द्वो, कोसा वीहीण रुद्ध-परिमाणं ।
कमसो हीणं जाव य, वीर-जिणं के वि इच्छंति ॥(733)

च सद्वेण णिय-सोवाणाण दीहत्तणं पि ।
एक-एक वीथी के विस्तार का परिमाण दो-दो कोस है और वीर जिनेन्द्र तक यह क्रमशः हीन होता गया है, ऐसा अन्य कितने ही आचार्य कहते हैं ।

च शब्द से अपने-अपने सोपानों की दीर्घता भी (उसी प्रकार दो-दो कोस है और क्रमशः कम होती गई है, ऐसा जानना चाहिए)

पंच-सया बावणा, कोसाणं वीहियाण दीहत्तं ।
चउवीस-हिदा कमसो, तेवीसूणा य णेमि-पज्जंतं ॥(734)

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में वीथियों की लम्बाई चौबीस से भाजित पाँच सौ बावन कोस प्रमाण थी और इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः भाज्यराशि (552) में से उत्तरोत्तर तेर्झस कम करके चौबीस का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतनी वीथियों की दीर्घता होती है ।

यथा (1) 552/24, (2) 529/24, (3) 506/24, (4) 483/24, (5) 460/24, (6) 437/24, (7) 414/24, (8) 391/24, (9) 368/24, (10) 345/24, (11) 322/24, (12) 299/24, (13) 276/24, (14) 253/24, (15) 230/24, (16) 207/24, (17) 184/24, (18) 161/24, (19) 138/24, (20) 115/24, (21) 92/24, (22) 69/24 ।

पण्णारसेहि अहियं कोसाण सयं च पासणाहम्मि ।
देवम्मि वङ्गमाणे, बाणउदी अडुताल-हिदा ॥(735)

भगवान् पाश्वनाथ के समवसरण में वीथियों की दीर्घता अडतालीस से भाजित एक सौ पन्द्रह कोस और वर्धमान जिन के अडतालीस से भाजित वानवै कोस प्रमाण थी ।

(23) 115/48, (24) 92/48

वीही-दो पासेसुं णिम्मल-फलिहोवलेहि रङ्गाओ ।
दो वेदीओ वीही-दीहत्त-समाण-दी हत्ता ॥(736)

वीथियों के दोनों पाश्वभागों में वीथियों की दीर्घता के सदृश दीर्घता

से युक्त और निर्मल स्फटिक-पाषाण से रचित दो वेदियाँ होती हैं।

यथा (1) 552/24, (2) 529/24, (3) 506/24, (4) 483/24,
(5) 460/24, (6) 437/24, (7) 414/24, (8) 391/24, (9)
368/24, (10) 345/24, (11) 322/24, (12) 299/24, (13)
276/24, (14) 253/24, (15) 230/24, (16) 207/24, (17)
184/24, (18) 161/24, (19) 138/24, (20) 115/24, (21)
92/24, (22) 69/24, (23) 115/48, (24) 92/48।

वेदीण रुदं दंडा, अद्वृहिदाणि छस्सहस्राणि।
अद्वाइज्जसएहिं, कमेण हीणाणि णेमि-पञ्जन्तं ॥(737)

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में वेदियों की मोटाई छह हजार धनुष प्रमाण थी। पुनः इससे आगे भगवान् नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः उत्तरोत्तर अढाई सौ - अढाई सौ कम होते गये हैं। ये सभी राशियाँ आठ-आठ से भाजित हैं।

यथा (1) 6000/8, (2) 5750/8, (3) 5500/8, (4) 5250/8,
(5) 5000/8, (6) 4750/8, (7) 4500/8, (8) 4250/8, (9)
4000/8, (10) 3750/8, (11) 3500/8, (12) 3250/8, (13)
3000/8, (14) 2750/8, (15) 2500/8, (16) 2250/8, (17)
2000/8, (18) 1750/8, (19) 1500/8, (20) 1250/8, (21)
1000/8, (22) 750/8

कोदंड-छस्याइं, पणवीस-जुदाइ अद्व-विहत्ताइ।
पारसम्मि बड्डमाणे, पण-घण-दंडाणि दलिदाणि ॥(738)

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में वेदियों का विस्तार आठ से भाजित छहसौ पच्चीस धनुष और वर्धमान स्वामी के दो से भाजित पाँच के घन (एक सौ पच्चीस) धनुष प्रमाण था।

(23) 625/8, (24) 125/2

अद्वाणं भूमीणं, मूले बहवा हु तोरणद्वारा।

सोहिय-वज्ज-कवाडा, सुर-णर-तिरिएहि संचरिदा ॥(739)

आठ भूमियों के मूल में वज्रमय कपाटों से सुशोभित और देवों, मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों के सञ्चार से युक्त बहुत से तोरणद्वार होते हैं।

णिय-णिय-जिणेसराणं, देहुस्सेहेण चउहि गुणिदेण।

चरियद्वालय-चेंचइयाणं वेदीण उर्सेहो ॥(740)

मार्गे एवं अद्वालिकाओं से रमणीक वेदियों की ऊँचाई अपने-अपने जिनेन्द्रों के शरीर के उत्सेध से चौगुनी होती है।

यथा (1) 2000 (2) 1800 (3) 1600 (4) 1400 (5) 1200 (6)
1000 (7) 800 (8) 600 (9) 400 (10) 360 (11) 320 (12)
280 (13) 240 (14) 200 (15) 180 (16) 160 (17) 140 (18)
120 (19) 100 (20) 80 (21) 60 (22) 40। हत्थाणि (23) 36
(24) 28

5 धूलिशाल

स्ववाणं बाहिरए धूलीसाला समवद्वा।

विष्पुरिग-पंच-वण्णा, मणुसुत्तर पव्वदायारा ॥(741)

चरियद्वालय-रम्मा, पयल-पदाया-कलाव रमणिञ्चा।

तिच्छवण-विम्हय- जणणी, चउहि दुवारेहि परियरिया ॥(742)

सबके बाहर पाँच वर्णों से स्फुरायमान, विशाल एवं समान गोल, मानुषोत्तर पर्वत के आकार (सदृश) धूलिशाल नामक कोट होता है, जो मार्ग एवं अद्वालिकाओं से रमणीय, चञ्चल पताकाओं के समूह से सुन्दर तीनों लोकों को विस्मित करने वाला और चार द्वारों से युक्त होता है।

4 द्वार

विजयं ति पुव्वदारं, दक्षिणवण-दारं च वङ्गजयंतेत्ति।

पच्छिम-उत्तर दारा, जयंत-अपराजिदा णामा ॥(743)

इनमें पूर्व द्वार का नाम विजय, दक्षिण द्वार का वैजयन्ति। पश्चिम द्वार का जयन्ति और उत्तर द्वार का नाम अपराजित होता है।

एदे गोउर-दारा, तवणीयमया ति-भूमि-भुसणया ।
सुर-णर-मिहुण-सणाहा, तोरण-णच्चंत-मणिमाला ॥(744)

ये चारों गोपुर-द्वार सुवर्ण से निर्मित, तीन भूमियों से विभूषित देव एवं मनुष्यों के मिथुनों (जोड़ों) से संयुक्त तथा तोरणों पर नाचती (लटकती) हुई मणि-मालाओं से शोभायमान होते हैं।

एककेकक-गोउराणं, बाहिर-मज्जमिमि दारदो पासे ।
बाउलया वित्तिण्णा, मंगल णिहि-धूव-घड-भरिदा ॥(745)

प्रत्येक गोपुर के बाहर और मध्यभाग में द्वार के पाश्वर्भागों में मङ्गल द्रव्य निधि एवं धूप घट से युक्त विस्तीर्ण पुतलियां होती हैं।

108 मंगल द्रव्य

भिंगार-कलस-दर्पण-चामर-धय-वियण-छत्त-सुपइड्डा ।
इय अट्ठ मंगलाइं, अटुत्तर-सय-जुदाणि एककेककं ॥(746)

झारी, कलश, दर्पण, चामर, धवजा, व्यंजन, छत्र एवं सुप्रतिष्ठित ये आठ मङ्गल द्रव्य हैं। इनमें से प्रत्येक एक सौ आठ होते हैं।

108 नवनिधि-

काल-महाकाल-पंडू, मानव-संखा य पउम-णइसप्पा ।
पिंगल-णाणा-रयणा, अटुत्तर-सय-जुदाणि णिहि एदे ॥(747)

काल, महाकाल, पाण्डु, माणवक, शङ्ख, पदम, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नव निधियां प्रत्येक एक सौ आठ (एक सौ आठ) होती हैं।

निधि के कार्य-

उड्ह-जोग-दव्य-भाण-धण्णाउह-तूर-वत्थ-हम्माणि ।
आभरण-सयल-रयणा, देंति कालादिय कमसो ॥(748)

उक्त कालादिक निधियां ऋतु के योग्य क्रमशः द्रव्य (मालादिक) भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, प्रासाद आभरण एवं सम्पूर्ण रत्न देती हैं।

धूप-घट-

गोसीस मलय-चंदण-कालागरु-पहुदि-धूव-गंधढडा ।
एककेकके भूवलये, एकेकको होदि धूव-घडो ॥(749)

एक-एक भूवलय के ऊपर गोशीष, मलय-चन्दन और कालागरु आदिक धूपों की गन्ध से व्याप एक-एक धूप-घट होता है।

तोरण-

धूलीसाला-गोउर-बहिरए मयर-तोरण-सयाणि ।
अब्भंतरमिमि भागे, पत्तेयं रयण-तोरण-सयाणि ॥(750)

धूलिसाल सम्बन्धी गोपुरों के प्रत्येक बाह्य भाग में सैंकड़ों मकर-तोरण और अभ्यन्तर भाग में सैंकड़ों रत्नमय तोरण होते हैं।

नाट्यशाला-

गोउर-दुबार-मज्जे दोसु वि पासेसु रयण-णिम्मविया ।
एकेक-णहु-साला, णच्चंत सुरंगणा-णिवहा ॥(751)

गोपुर-द्वारों के बीच दोनों पाश्वर्भागों में रत्नों से निर्मित और नृत्य करती हुई देवाङ्गनाओं के समूह से युक्त एक-एक नाट्यशाला होती है।

द्वार-रक्षक-

धूलीसाला-गोउर-दारेसुं चउसु हॉति पत्तेकं ।
वर-रयण-दंड-हत्था, जोइसिया दार रक्खणया ॥(752)

धूलिसाल के चारों गोपुरों में से प्रत्येक में, हाथ में उत्तम रत्नदण्ड को लिए हुए ज्योतिष्क देव द्वार-रक्षक होते हैं।

सीढ़ियां-

चउ-गोउर-दारेसुं, बाहिर-अभ्यन्तरम्भि भागम्भि ।
सुह-सुंदर-संचारा, सोवाणा विविह-र्यणमया ॥(753)

चारों गोपुर द्वारों के बाह्य और अभ्यन्तर भाग में विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित, सुख-पूर्वक सुन्दर संचार योग्य सीढ़ियां होती हैं।

धूलिसालों की ऊचाई-

धूलीसालाण पुढं, णिय-जिण-देहोदय-प्पमाणेण ।
चउ गुणिदेण उदओ, सव्वेसु वि समवसरणेसुं ॥(754)

सब समवसरणों में धूलिसालों की ऊचाई अपने-अपने तीर्थकर के शरीर के उत्तेज प्रमाण से चौगुनी होती है। जैसे—

(1) आदिनाथ के समवसरण की धूलिसाल की ऊचाई 500 धनुष
 $x 4 = 2000$ धनुष (2) 1800 (3) 1600 (4) 1400 (5) 1200
 (6) 1000 (7) 800 (8) 600 (9) 400 (10) 360 (11) 320
 (12) 280 (13) 240 (14) 200 (15) 180 (16) 160 (17)
 140 (18) 120 (19) 100 (20) 80 (21) 60 (22) 40 (23)
 हस्त 36 (24) 28

तोरण-उदओ आहिओ, धूलीसालाण उदय-संखादो ।
तत्तो य सादिरेगो, गोउर-दाराण सयलाण ॥(755)

धूलिसालों की ऊचाई की संख्या से तोरणों की ऊचाई अधिक होती है और इनसे भी अधिक समस्त गोपुरों की ऊचाई होती है।

धूलिसालों के मूल विस्तार

चउवीसं चेय कोसा, धूलीसालाण मूल-वित्थारा ।
वारस वगेण हिदा, णेमि-जिणंतं कमेण एक्खणा ॥(756)

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में धूलिसाल का मूल-विस्तार बारह के वर्ग से भाजित चौबीस (24/144) कोस प्रमाण था फिर इसके आगे

भगवान् नेमिनाथ पर्यन्त (भाज्य राशि में से) क्रमशः एक-एक कम होता गया है। जैसे (1) 24/144 कोस (2) 23/144 (3) 22/144 (4) 21/144 (5) 20/144 (6) 19/144 (7) 18/144 (8) 17/144 (9) 16/144 (10) 15/144 (11) 14/144 (12) 13/144 (13) 12/144 (14) 11/144 (15) 10/144 (16) 9/144 (17) 8/144 (18) 7/144 (19) 6/144 (20) 5/144 (21) 4/144 (22) 3/144

अडसीदि-दोसरहिं, भाजिदा पासम्भि पंच कोसा य ।
एको य बड्डमाणे, कोसो बाहत्तरी-हरिदो ॥(757)

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में धूलिसाल का मूल विस्तार दो सौ अठासी से भाजित पाँच कोस 5/288 और वर्धमान भगवान् के समवसरण में उसका विस्तार बहतर से भाजित एक कोस 1/72 प्रमाण था।

आदिपुराण में कहा भी है— धूलिसाल नाम का घेरा था जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान थी और जो अपने समीप के भूभाग को अलंकृत कर रहा था। वह धूलीसाल ऐसा जान पड़ता था मानो अतिशय देदीप्यमान और वलय (चूड़ी) का आकार धारण करता हुआ इन्द्रधनुष ही धूलीसाल के बहाने से उस समवसरण भूमि की सेवा कर रहा हो। कटिसूत्र की शोभा को धारण करता हुआ और वलय के आकार का वह धूलीसाल का घेरा जिनेन्द्र देव के उस समवसरण को चारों ओर से घेरे हुए था। अनेक प्रकार के रत्नों की धूलि से बना हुआ वह धूलीसाल कही तो अंजन के समूह के समान काला-काला सुशोभित हो रहा था। कहीं सुवर्ण के समान पीला-पीला लग रहा था और कहीं मूँगा की कान्ति के समान लाल-लाल आसमान हो रहा था। जिसकी किरणें ऊपर की ओर उठ रही हैं ऐसे, तोते के पंखों के समान हरित वर्ण की मणियों की धूलि से कहीं-कहीं व्यास हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो कमलिनी के छोटे-छोटे नये पत्तों से ही व्यास हो रहा हो। वह कहीं-कहीं पर चन्द्रकान्तमणि के चूर्ण से बना हुआ था और चाँदनी की शोभा धारण कर रहा था फिर भी लोगों के चित्त

को अनुरक्त अर्थात् लाल-लाल कर रहा था यह भारी आश्चर्य की बात थी (परिहार पक्ष में-अनुराग से युक्त कर रहा था) कहीं पर परस्पर में मिली हुई मरकतमणि और पद्मरागमणि की किरणों से वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगन में इन्द्रधनुष की शोभा ही बढ़ा रहा हो। कहीं पर पद्मरागमणि और इन्द्रनीलमणि के प्रकाश से व्यास हुआ वह धूलीसाल ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के द्वारा चूर्ण किये गए काम और क्रोध के अंशों से ही बना हो। कहीं-कहीं पर सुवर्ण की धूलि के समूह से देवीप्यमान होता हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो 'वह धूर्त कामदेव कहाँ छिपा है उसे देखो, वह हमारे-द्वारा जलाये जाने के योग्य है' ऐसा विचारकर ऊँची उठी हुई अग्नि का समूह हो। इसके सिवाय वह छोटे-बड़े रत्नों की किरणावली से आकाश को भी व्यास कर रहा था। इस धूलीसाल के बाहर चारों दिशाओं में सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे, उन तोरणों में मत्स्य के आकार बनाये गये और उन पर रत्नों की मालाएँ लटक रही थीं। (आदिपुराण पृ.सं.514)

चैत्यप्रासाद

सालब्धंतरभागे चेत्तप्पासाद-णाम - भूमीओ।
वेदंति सयल-खेतं, जिणपुर-पासाद-सहिदाओ॥(759)

उन धूलिसालों के अभ्यन्तर भाग में जिनपुरसम्बन्धी प्रासादों से युक्त चैत्य-प्रासाद नामक भूमियाँ सकल क्षेत्र को वेष्टित करती हैं।

एककेकं जिण-भवणं, पासादा पंच पंच अंतरिदा।
विविह-वण - संड-मंडण-वर-वावी-कूव-रमणिङ्गा॥(760)

एक-एक जिन भवन के अन्तराल से पाँच-पाँच प्रासाद हैं, जो विविध वन-समूहों से मण्डित और उत्तम वापिकाओं एवं कुओं से रमणीय होते हैं।

जिणपुर-पासादाणं, उस्सेहो णिय-जिणिदं-उदएण।
बारस-हदेण सिरसो, णटो दीहत्त-वास-उवदेसो॥(761)

जिनपुर और प्रासादों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थकर की ऊँचाई

से बारह-गुणी होती है। इनकी लम्बाई और विस्तार के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है जैसे (1) आदिनाथ के 500 धनुष गुण 12=6000 धनुष (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23) 27 (24) 21 दु-सय चउसहि-जोयणमुसहे एकारसोणमनुकमसो। चउवीस-वग-भाजिदं, णेमि-जिणं जाव पढम-खिदि रुंदं॥(762)

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में प्रथम पृथिवी का विस्तार चौबीस के वर्ग (576) से भाजित दो सौ चौसठ (264/576) योजन था। फिर इससे आगे नोमिनाथ तीर्थङ्कर पर्यन्त भाज्य राशिमें से क्रमशः उत्तरोत्तर ग्यारह-ग्यारह कम होते गये हैं। यथा (1) आदिनाथ के 264/576 योजन (2) 259/576 (3) 242/576 (4) 231/576 (5) 220/576 (6) 209/576 (7) 198/576 (8) 187/576 (9) 176/576 (10) 165/576 (11) 154/576 (12) 143/576 (13) 132/576 (14) 121/576 (15) 110/576 (16) 99/576 (17) 88/576 (18) 77/576 (19) 66/576 (20) 55/576 (21) 44/576 (22) 33/576

पणवण्णासा कोसा, पास-जिणे अद्वसीदि-दु-सय-हिदा।
बावीस वीरणाहे, बारस-वगोहि पविभत्ता॥763॥

पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के समवसरण में प्रथम पृथिवी का विस्तार दो सौ अठासी से भाजित पचपन कोस 55/288 और वीरनाथ भगवान् के बारह के वर्ग (144) से भाजित बाईस कोस (44/288) प्रमाण था।

(7) नाट्य शाला-

आदिम-खिदीसु पुह-पुह, बीहीणं दोसु पासेसुं।
दोद्वो णद्वय-साला, वर-कंचण-रयण-णिमिविया॥(764)
(पृ.221)(तिलोयथण्णती)

प्रथम पृथिवियों में पृथक्-पृथक् वीथियों के दोनों पाश्वभागों में उत्तम स्वर्ण एवं रत्नों से निर्मित दो-दो नाट्यशालायें होती हैं।

**णट्य-सालाण पुढं-उरस्सेहो णिय-जिणिंद-उदएहि।
बारस-हदेहि सरिसो, णट्टा दीहत्त-वास-उवएसा ॥(765)**

नाट्यशालाओं की ऊँचाई बारहसे गुणित अपने-अपने तीर्थकरों के शरीर की ऊँचाई के सदृश होती है, तथा इनकी लम्बाई एवं विस्तार का उपदेश नष्ट हो गया है। यथा (1) आदिनाथ के 500 धनुष \times 12 = 6000 ध = (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) णेमि 120 (23) पास 27 (24) वीर 21।

**एककेककाए णट्य-सालाए चउ हदडु रंगाणि।
एककेककस्सिं रंगे, भावण-कण्णाउ बत्तीसा ॥(766)
गायंति जिणिंदाणं, विजयं विविहत्थ-दिव्य-देहि।
अभिणइय णच्चणीओ, खिवंति कुसुमंजलि ताओ ॥(767)**

प्रत्येक नाट्यशाला में चार से गुणित आठ (32) रङ्गभूमियाँ और प्रत्येक रङ्गभूमि में बत्तीस भवनवासी-कन्यायें अभिनयपूर्वक नृत्य करती हुई नाना प्रकार के अर्थों से युक्त दिव्य गीतों द्वारा तीर्थकरों की विजय के गीत गाती हैं और पुष्पाञ्जलियों का क्षेपण करती हैं।

**एककेककाए णट्य-सालाए दोणि दोणि धूव-घडा।
णाणा-सुगंधि-धूवं, पसरेण वासिय-दिगंता ॥(768)**

प्रत्येक नाट्यशाला में नानाप्रकार की सुगन्धित धूपों से दिङ्मण्डल को सुवासित करने वाले दो-दो धूप घट रहते हैं।

आदिपुराण में कहा भी है—

उन गोपुर दरवाजों के भीतर जो बड़ा भारी रास्ता था उसके दोनों

ओर दो नाट्यशालाएं थी, इस प्रकार चारों दिशाओं के प्रत्येक गोपुरद्वार में दो-दो नाट्यशालाएं थी। वे दोनों ही नाट्यशालाएं तीन-तीन खण्ड की थी और उनमें से ऐसी जान पड़ती थी मानो लोगों के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्वारित्र के भेद से तीन भेद वाला मोक्ष का मार्ग ही बतलाने के लिए तैयार खड़ी हो। जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्ण के बने हुए हैं, जिनकी दीवालें दैदीप्यमान स्फटिक मणिकी बनी हुई हैं और जिन्होंने अपने रत्नों के बने हुए शिखरों से आकाश के प्रदेश को व्याप कर लिया हैं ऐसी वे दोनों नाट्यशालाएं बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं। उन नाट्यशालाओं की रङ्गभूमि में ऐसी अनेक देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं। जिनके शरीर अपनी कान्ति रूपी सरोवर में डब्बे हुए थे और जिससे वे बिजली के समान-सुशोभित हो रही थी। उन नाट्यशालाओं में इकट्ठी हुई वे देवांगनाएं जिनेन्द्रदेव की विजय के गीत गा रही थीं और उस विजय का अभिनय करती हुई पुष्पाञ्जलि छोड़ रही थी। उन नाट्यशालाओं में वीणा की आवाज के साथ साथ जो मृदंग की आवाज उठ रही थी वह मयूरों को वर्षाकृतु के प्रारम्भ होने की शंका उत्पन्न कर रही थी। वे दोनों ही नाट्यशालाएं शरदऋतु के बादलों के समान सफेद थी इसलिए उनमें नृत्य करती हुई वे देवांगनाएँ ठीक बिजली की शोभा फैला रही थी। उन नाट्यशालाओं में किन्नर जाति के देव उत्तम संगीत के साथ-साथ मधुर शब्दों वाली वीणा बजा रहे थे जिससे देखने वालों की चित्तवृत्तियाँ उनमें अतिशय आसक्ति को प्राप्त हो रही थी।

(पृ.सं. 521)

(8) मानस्तम्भ-

**णिय-णिय-पद्य-खिदीए, बहुमज्ज्वे चउसु वीहि-मज्जम्मि।
माणस्तंभ-खिदीए, सम-वट्टा विविह-वण्णण-सहाओ ॥(769)**

अपनी अपनी प्रथम पृथिवी के बहुमध्यभाग में चारों वीधियों के बीचों बीच समान गोल और विविध वर्णन-योग्य मानस्तम्भ भूमियाँ होती हैं।

**अद्भंतरम्मि ताणं, चउ-गोउर-दार-सुंदरा साला।
णच्चंत-धय-वडाया मणि-किरणुज्जोइय-दिगंता ॥(770)**

उनके (मानस्तम्भ-भूमियों के) अभ्यन्तर भाग में चार गोपुरद्वारों से सुन्दर नाचती हुई ध्वज पताकाओं सहित और मणियों की किरणों से दिङ्मण्डल को प्रकाशित करने वाले कोट होते हैं।

ताणं पि मज्जभागे, वण-संडा विविह-दिव्य-तरु भरिया।
कल-कोकिल-कल-कलया, सुर-किण्णर-मिहुण-संछण्णा ॥(771)

उनके भी मध्य भाग में विविध दिव्य-वृक्षों से संयुक्त-सुन्दर कोयलों के कल-कल शब्दों से मुखरित और सुर एवं किन्नर युगलों से संकीर्ण वन-खण्ड हैं।

तम्मेज्ज्ञे रम्माइं, पुत्वादि-दिसासु लोयपालाणं।
सोम-जम-वरुण-धण्णा, हौंति महा-कीडण-पुराइं ॥(772)

उनके मध्य में पूर्वादिक दिशाओं में क्रमशः सोम, यम, वरुण और कुवेर इन लोक पालों के अत्यन्त रमणीय महाक्रीडा नगर होते हैं।

ताणब्मंतर-भागे साला चउ-गोउरादि-परियरिया।
तत्तो वण-वावीओ, कलिंदवरमाणण-सहाओ ॥(773)

उनके अभ्यन्तर भाग में चार गोपुरादि वेष्टित कोट और इसके आगे वन-वापिकाएँ होती हैं, जो प्रफुल्लित नीलकमलों से शोभायमान होती हैं।

ताणं मज्जे णिय-णिय-दिसासु दिव्वाणि कीडण-पुराइं।
हुदवह-णेरिदि-मारुद-ईसाणाणं च लोयपालाणं ॥(774)

उनके बीच में लोकपालों के अपनी-अपनी दिशा में तथा आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान, इन, विदिशाओं में भी दिव्य क्रीडन-पुर होते हैं।

ताणब्मंतरभागे, सालाओ वर-विसाल-दाराओ।
तम्मज्ज्ञे पीढाणि, एककेकके समवसरणम्मि ॥(775)

उनके अभ्यन्तर भाग में उत्तम विशाल द्वारों से युक्त कोट होते हैं और फिर इनके बीच में पीठ होते हैं। ऐसी संरचना प्रत्येक समवसरण में

होती है।

वेरुलियमयं पढमं, पीढं तस्सोवरिमि कणयमयं।
दुइयं तस्स य उवरि, तदियं बहु-वण्ण-रयणमयं ॥

इनमें से पहला पीठ वैद्यर्यमणिमय, उसके ऊपर दूसरा पीठ सुवर्णमय और उसके भी ऊपर तीसरा पीठ बहुत वर्ण के रत्नों से निर्मित होता है।

प्रथम पीठ की ऊँचाई-

आदिम-पीढुच्छेहो, दंडा चउवीसा रुव-तिय-हरिदा।
उसह-जिणिंदे कमसो, रुवूणा णेमि-पञ्जंते ॥(777)

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में प्रथम पीठ की ऊँचाई तीन से भाजित चौबीस धनुष प्रमाण थी। इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः उत्तरोत्तर भाज्य-राशि में से एक-एक अंक कम होता गया। यथा (1) आदिनाथ के 24/3 धनुष (2) 23/3 (3) 22/3 (4) 21/3 (5) 20/3 (6) 19/3 (7) 18/3 (8) 17/3 (9) 16/3 (10) 15/3 (11) 14/3 (12) 13/3 (13) 12/3 (14) 11/3 (15) 10/3 (16) 9/3 (17) 8/3 (18) 7/3 (19) 6/3 (20) 5/3 (21) 4/3 (22) 3/3

पासे पंचच्छहिदा, तिदय-हिदा दोणि वड्माण-जिणे।
सेसाण अद्वमाणा, आदिम-पीढस्स उदयाओ ॥(778)

इसके आगे पार्श्वनाथ के समवसरण में प्रथम पीठ की ऊँचाई छह से भाजित पाँच 5/6 और वर्धमान जिनके तीन से भाजित दो धनुष 2/3 प्रमाण थी। शेष दो पीठों की ऊँचाई प्रथम पीठ की ऊँचाई से आधी थी।

द्वितीय पीठ ऊँचाई (धनुष में)-

(1) 24/6 (2) 23/6 (3) 22/6 (4) 21/6 (5) 20/6 (6) 19/6
(7) 18/6 (8) 17/6 (9) 16/6 (10) 15/6 (11) 14/6 (12)
13/6 (13) 12/6 (14) 11/6 (15) 10/6 (16) 9/6 (17)
8/6 (18) 7/6 (19) 6/6 (20) 5/6 (21) 4/6 (22) 3/6

तृतीय पीठ की ऊँचाई (धनुष में)-

(1) 24/6 (2) 23/6 (3) 22/6 (4) 21/6 (5) 20/6 (6) 19/6
 (7) 18/6 (8) 17/6 (9) 16/6 (10) 15/6 (11) 14/6 (12)
 13/6 (13) 12/6 (14) 11/6 (15) 10/6 (16) 9/6 (17)
 8/6 (18) 7/6 (19) 6/6 (20) 5/6 (21) 4/6 (22) 3/6
 (23) 5/12 (24) 2/6

तीनों पीठों की सीढ़ियाँ-

पीढ़त्तयस्स कमसो, सोवाणं चउदिसासु पत्तेकं।
 अडु चउ चउ पमाणं, जिण-जाणिद-दीह-वित्थारा ॥(779)

चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन तीनों पीठों की सीढ़ियों का प्रमाण क्रमशः आठ, चार और चार है। इन सीढ़ियों की लम्बाई और विस्तार जिनेन्द्र ही जानते हैं अर्थात् उसका उपदेश नष्ट हो गया है।

प्रथम पीठ की सीढ़ियाँ-

(1) 8 (2) 8 (3) 8 (4) 8 (5) 8 (6) 8 (7) 8 (8) 8 (9)
 8 (10) 8 (11) 8 (12) 8 (13) 8 (14) 8 (15) 8 (16) 8
 (17) 8 (18) 8 (19) 8 (20) 8 (21) 8 (22) 8 (23) 8 (24)
 8

द्वितीय पीठ की सीढ़ियाँ-

(1) 4 (2) 4 (3) 4 (4) 4 (5) 4 (6) 4 (7) 4 (8) 4 (9)
 4 (10) 4 (11) 4 (12) 4 (13) 4 (14) 4 (15) 4 (16) 4
 (17) 4 (18) 4 (19) 4 (20) 4 (21) 4 (22) 4 (23) 4 (24) 4

तृतीय पीठ की सीढ़ियाँ-

(1) 4 (2) 4 (3) 4 (4) 4 (5) 4 (6) 4 (7) 4 (8) 4 (9)
 4 (10) 4 (11) 4 (12) 4 (13) 4 (14) 4 (15) 4 (16) 4
 (17) 4 (18) 4 (19) 4 (20) 4 (21) 4 (22) 4 (23) 4 (24) 4

प्रथम एवं द्वितीय मानस्तम्भ-पीठों का विस्तार जिनेन्द्र ही जानते हैं। हमारे लिए इसका उपदेश अब नष्ट हो चुका है।

दंडा तिण्णि सहस्सा, तिय-हरिदा, तदिय-पीढ-वित्थारो।
 उसह-जिणिंदे कमसो, पण-घण-हीणा य जाव णेमि-जिण ॥(781)

ऋषभदेव के समवसरण में तृतीय पीठ का विस्तार तीन भाजित तीन हजार धनुष (3000/3) प्रमाण था। इसके आगे नेमिजिनेन्द्र पर्यन्त क्रमशः उत्तरोत्तर पाँच का घन (125) भाज्यराशि में से कम होता गया है। यथा (1) आदिनाथ के 3000/3 धनुष (2) 2875/3 (3) 2750/3 (4) 2625/3 (5) 2500/3 (6) 2375/3 (7) 2250/3 (8) 2125/3 (9) 2000/3 (10) 1875/3 (11) 1750/3 (12) 1625/3 (13) 1500/3 (14) 1375/3 (15) 1250/3 (16) 1125/3 (17) 1000/3 (18) 875/3 (19) 750/3 (20) 625/3 (21) 500/3 (22) 365/3।

पणवीसाधिय-छरसय-धणूणि पासम्मि छक्क-भजिदाणि।
 दंडाणं पंच-सया, छक्क-हिदा वीरणाहरस ॥(782)

भगवान् पाश्वनाथ के समवसरण में तृतीय पीठ का विस्तार छह से भाजित छह सौ पच्चीस धनुष (625/6) और वीरनाथ के छह से भाजित पाँच सौ धनुष (500/6) प्रमाण था।

पीढाण उवरि माणत्थंभा उसहम्मि ताण बहलत्तं।
 दु-पण-णव-ति-दुग-दंडा, अंक-कमे तिगुण-अडु-पविहत्ता ॥(783)
 अड-णउदि-अहिय-णव-सय-ऊणा कमसो यणेमि-परियंतं।
 पण्ण-कदी पंचूणा, चउवीस-हिदा य पासणाहम्मि ॥(784)

पीठों के ऊपर मानस्तम्भ होते हैं। उनका बाहल्य ऋषभदेव के समवसरण में आठ के तिगुने (24) भाजित, अंक क्रम से दो, पाँच, नौ, तीन और दो (23952) धनुष प्रमाण था। इसके आगे नेमिनाथ तीर्थकर पर्यन्त भाज्यराशि में क्रमशः उत्तरोत्तर नौ सौ अड्डानवै कम होते गये हैं। पाश्वनाथ के

समवसरण में मानस्तम्भों का बाहल्य चौबीस से भाजित पचास के वर्ग में से पाँच कम (2494/24) धनुष प्रमाण था। यथा आदिनाथ के (23952/24) धनुष (2) 22954/24 (3) 21956/24 (4) 20958/24 (5) 19960/24 (6) 18962/24 (7) 17964/24 (8) 16966/24 (9) 15968/24 (10) 14970/24 (11) 13972/24 (12) 12974/24 (13) 11976/24 (14) 10978/24 (15) 9980/24 (16) 8982/24 (17) 7984/24 (18) 6986/24 (19) 5988/24 (20) 4990/24 (21) 3992/24 (22) 2994/24 (23) 2495/24।

पंच-सया रुज्जुणा, छक्क हिदा वढमाण-देवमि।
णिय-णिय-जिण उदयेहि, बारस-गुणियेहि थंभ-उच्छेहो ॥(785)

वर्द्धमान तीर्थङ्कर के समवसरण में मानस्तम्भों का बाहल्य छह से भाजित एक कम पाँच सौ धनुष 499/6 प्रमाण था। इन मानस्तम्भों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थङ्कर के शरीर की ऊँचाई से बारह गुणी होती है। जैसे (1) आदिनाथ के $500 \text{ धनुष} \times 12 = 6000 \text{ धनुष}$ (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23) 27 (24) 21।

जोयण-अहियं उदयं, माणत्थंभाण उसह-सामिमि।
कम-हीणं सेसेसुं, एवं केई णिलवंति ॥(786)

(पाठान्तरम्)

ऋषभनाथ स्वामी के समवसरण में मानस्तम्भों की ऊँचाई एक योजन से अधिक थी। शेष तीर्थङ्करों के मानस्तम्भों की ऊँचाई क्रमशः हीन होती गई है। ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। यथा आदिनाथ के (24/24) धनुष (2) 23/24 (3) 22/24 (4) 21/24 (5) 20/24 (6) 19/24 (7) 18/24 (8) 17/24 (9) 16/24 (10) 15/24 (11) 14/24

(12) 13/24 (13) 12/24 (14) 11/24 (15) 10/24 (16) 9/24 (17) 8/24 (18) 7/24 (19) 6/24 (20) 5/24 (21) 4/24 (22) 3/24 (23) 5/48 (24) 4/48।

मानस्तम्भ की बनावटी-

थंभाण मूलभाग, दु-सहस्र-पमाण वज्जदारङ्घु।
मज्जिम-भाग वट्टा, पत्तेकं फलहि-णिम्मविया ॥(787)
उवरिम-भाग उज्जल-वेरुलियमया विभूसिया परदो।
चामर-घटा-किंकिणि-र्यणावलि-केदु-पहुदीहिं ॥(788)

प्रत्येक मानस्तम्भ का मूलभाग दो हजार (धनुष) प्रमाण है और वज्जदारों से युक्त होता है। मध्यम भाग स्फटिक मणि से निर्मित और वृत्ताकार होता है तथा उज्जवल वैदूर्य मणिमय उपरिम भाग चारों और चामर, घटा, किंकिणी, रत्नहार एवं ध्वजा इत्यादिकों से विभूषित रहता है।

मानस्तंभीं में जिन-प्रतिमा-

ताणं मूले उवरि, अहु-महापाडिहेरि-जुत्ताओ।
पडिदिसमेकककाओ, रम्माओ जिणिंद-पडिमाओ ॥(789)

प्रत्येक मानस्तम्भ के मूलभाग में एवं उपरिम भाग में प्रत्येक दिशा में आठ-आठ महाप्रतिहार्यों से युक्त एक-एक रमणीय जिन प्रतिमा होता है।

मानस्तंभ का नामकरण-

माणुल्लासिय-मिच्छा, वि दूरदो दंसणेण थंभाणं।
जं होति गलिद-माणा, माणत्थंभेति तं भणिंद ॥(790)

क्योंकि मानस्तम्भों को दूर से ही देख लेने पर अभिमानी मिथ्यादृष्टि लोग अभिमान से रहित हो जाते हैं अतः इन (स्तम्भों) को 'मानस्तम्भ' कहा गया है।

मानस्तंभ की पाविकायें-

सालत्तय-बाहिरए पत्तेकं चउ-दिसासु होति दहा।
वीहिं पडि पुव्वादि-क्कमेण सव्वेसु समवसरणेसु ॥(791)

सब समवसरणों में तीनों कोटों के बाहर चार-दिशाओं में

से प्रत्येक दिशा में क्रमशः पूर्वादिक वीथी के आश्रित द्रह (वापिकाएँ) होते हैं।

णंदुत्तर-णंदाओ, णंदिगई णंदिघोस-णामाओ ।
पुव्वत्थंभे पुव्वादिए सु भागेसु चत्तारो ॥(722)

पूर्वदिशागत मानस्तम्भ के पूर्वादिक भागों में क्रमशः नन्दोत्तरा, नन्दा, नन्दिमती और नन्दिघोषा नामक चार द्रह होते हैं।

विजया य वङ्जयंता, जयंत-अवराजिदाइ णामेहिं ।
दक्खिण-थंभे पुव्वादिएसु भागेसु चत्तारो ॥(793)

दक्षिण दिशा स्थित मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादिक भागों में क्रमशः विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता नामक चार द्रह होते हैं।

अभिहाणे य असोगा, सुप्पङ्गुद्धा य कुमुद-पुंडरिया ।
पच्छिम-थंभे पुव्वादिए सु भाएसु चत्तारो ॥(794)

पश्चिम दिशागत मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादिक भागों में क्रमशः अशोका, सुप्रतिबुद्धा (सुप्रसिद्ध), कुमुदा और पुण्डरीका नामक चार द्रह होते हैं।

हिदय-महाणंदाओ, सुप्पङ्गुद्धा पहंकरा णामा ।
उत्तर-थंभे पुव्वादिएसु भाएसु चत्तारो ॥(795)

उत्तर दिशावर्ती मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादिक भागों में क्रमशः हृदयानन्दा, महानन्दा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभङ्गरा नामक चार द्रह होते हैं।

एदे सम-चउररसा, पवर-दहा पउग-पहुदि-संजुत्ता ।
टंकुकिकण्णा वेदिय-चउ-तोरण-रयणमाल-रमणिज्जा ॥(796)

ये उपर्युक्त उत्तम द्रह समचतुष्कोण, कमलादिक से संयुक्त, टङ्गोत्कीर्ण और वेदिका, चार तोरण एवं रत्नमालाओं से रमणीय होते हैं।

सव्व-दहाणं मणिमय, सोवाणा चउ-तडेसु पत्तेकंक ।
जल-कीडण-जोगेहिं संपुण्णं दिव्व-दव्वेहिं ॥(797)

सब द्रहों के चारों तटों में से प्रत्येक तटपर जलक्रीडा के योग्य दिव्य द्रव्यों से परिपूर्ण मणिमयी सोपान होते हैं।

भावण-वेंतर-जोइस कप्पंवासी य कीडण-पयद्वा ।
णर-किण्णर-मिहुणाणं कुंकुम-पंकेण पिंजरिदा ॥(798)

इन द्रहों में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव क्रीडा में प्रवृत होते हैं। ये द्रह नर एवं किन्नर युगलों के कुंकुम-पङ्क्षे पीतवर्ण रहते हैं।

एककेक कमल संडे, दोद्वा कुंडाणि णिम्मल जलाइ ।
सुर-णर तिरिया तेसुं, धुव्वंतो चरण-रेणुओ ॥(799)

प्रत्येक कमलखण्ड अर्थात् द्रह के आश्रित निर्मल जल से परिपूर्ण दो-दो कुण्ड होते हैं जिनमें देव, मनुष्य एवं तिर्यग्न अपने पैरों की धूलि धोया करते हैं। (तिलोकपण्यती पृ. 224)

मानस्तम्भ का वर्णन आचार्य जिनसेन ने भी आदि पुराण में निम्न प्रकार से किया हैः—

उस धूलीसाल के भीतर कुछ दूर जाकर गलियों के बीचो-बीच में सुवर्ण के बने हुए और अतिशय ऊँचे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे। भावार्थ-चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तम्भ था। जिस जगतीपर मानस्तम्भ थे वह जगती चार-चार गोपुरद्वारों से युक्त तीन कोटों से धिरी हुई थी, उसके बीच में एक पीठिका थी। वह पीठिका तीनों लोकों के स्वामी जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के जल से पवित्र थी, उस पर चढ़ने के लिए सुवर्ण की सोलह सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, मनुष्य देव-दानव आदि सभी उसकी पूजा करते थे और उसपर सदा पूजा के अर्थ पुष्पों का उपहार रखा रहा था, ऐसी उस पीठिका पर आकाश को स्पर्श करते हुए वे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे जो दूर से दिखाई देते ही मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट कर देते थे। वे मानस्तम्भ आकाश का स्पर्श कर रहे थे, महाप्रमाण के धारक थे, घण्टाओं से धिरे हुए थे, और चमर तथा ध्वजाओं सहित थे इसलिए ठीक दिग्गजों के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि दिग्गज भी आकाश का

स्पर्श करनेवाले, महाप्रमाण के धारक, घण्टाओं से युक्त तथा चमर और ध्वजाओं से सहित होते हैं। चार मानस्तम्भ चार दिशाओं में सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानों उन मानस्तम्भों के छल से भगवान् के अनन्त चतुष्य ही प्रकट हुए हों। उन मानस्तम्भों के मूल भाग में जिनेन्द्र भगवान् की सुर्वर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं जिनको इन्द्र लोग क्षीरसागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे। वे मानस्तम्भ निरन्तर बजते हुए बड़े-बड़े बाजों से निरन्तर होने वाले मङ्गलमय गानों और निरन्तर प्रवृत्त होने वाले नृत्यों से सदा सुशोभित रहते थे। ऊपर जगती के बीच में जिस पीठिका का वर्णन किया जा चुका है उसके मध्यभाग में तीन कटनीदार एक पीठ था। उस पीठ के अग्रभाग पर ही वे मानस्तम्भ प्रतिष्ठित थे, उनका मूल भाग बहुत ही सुन्दर था, वे सुर्वण के बने हुए थे, बहुत ऊँचे थे, उनके मस्तक पर तीन छत्र फिर रहे थे, इन्द्र के द्वारा बनाये जाने के कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रुढ़ हो गया था। उनके देखने से मिथ्यादृष्टि जीवों का सब मान नष्ट हो जाता था, उनका परिमाण बहुत ऊँचा था और तीन लोक के जीव उनका सम्मान करते थे इसलिए विद्वान् लोग उन्हें सार्थक नाम मानस्तम्भ कहते थे। जो अनेक प्रकार के कमलों से सहित थीं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ था और जो भव्य जीवों की विशुद्धता के समान जान पड़ती थीं ऐसी बावड़ियाँ उन मानस्तम्भों के समीपवर्ती भू भाग को अलंकृत कर रही थीं। जो फूले हुए सफेद और नीले कमलरूपी सम्पदा से सहित थीं ऐसी वे बावड़ियाँ इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानों भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की लक्ष्मी को देखने के लिए पृथ्वी ने अपने नेत्र ही उघाड़े हों। जिनपर भ्रमरों का समूह बैठा हुआ है ऐसे फूले हुए नीले और सफेद कमलों से ढँकी हुई वे बावड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों अंजनसहित काले और सफेद नेत्रों से ही ढँक रही हों। वे बावड़ियाँ एक-एक दिशामें चार-चार थीं और उनके किनारे पर पक्षियों की शब्द करते हुई पंक्तियाँ बैठी हुई थीं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों उन्होंने शब्द करती हुई ढीली करधनी ही धारण की हो। उन बावड़ियों में मणियों की सीढ़ियाँ लगी हुई थीं, उनके किनारे की ऊँची उठी हुई जमीन स्फटिकमणिकी बनी हुई थीं और उनमें पृथिवी

से निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इस प्रकार वे प्रसिद्ध बावड़ियाँ कृत्रिम नदी के समान सुशोभित हो रहीं थीं। वे बावड़ियाँ भ्रमरों की गुंजार से ऐसी जान पड़ती थीं मानों अच्छी तरह से अरहन्त भगवान् के गुण ही ग रही हों, उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरों से ऐसी जान पड़ती थीं मानों जिनेन्द्र भगवान् की विजय से सन्तुष्ट होकर नृत्य ही कर रही हों, चकवा-चकवियों के शब्दों से ऐसी जान पड़ती थीं मानों जिनेन्द्रदेव का स्तवन ही कर रही हों, स्वच्छ जल धारण करने से ऐसी जान पड़ती थी मानों सन्तोष ही प्रकट कर रही हों, और किनारे पर बने हुए पाँव धोने के कुण्डों से ऐसी जान पड़ती थीं मानों अपने-अपने पुत्रों से सहित ही हों, इस प्रकार नन्दोत्तरा आदि नामों को धारण करनेवाली बावड़ियाँ से बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं।
(आदिपुराण, पृ.515)

9. प्रथम वेदी-

वर-र्यण-केनु-तोरण-घंटा-जालादिएहि जुत्ताओ।
आदिम-वेदीओ तहा, सव्वेसु वि समवसरणेसु॥(800)

सभी समवसरणों में उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घण्टाओं के समूहादिक से युक्त प्रथम वेदियों भी उसी प्रकार होती हैं।

गोउर-दुवार-वाउल-पहुदी सव्वाण वेदियाण तहा।
अट्टुत्तर-सय-मंगल-णव-णिहि-दव्वाइ पुवं व॥(801)

सर्व वेदियों के गोपुरद्वार, नौ निधियाँ, पुत्तलिका इत्यादि तथा एक सौ आठ मंगल द्रव्य पूर्व के सदृश ही होते हैं।

णवरि विसेसो णिय-णिय-धूलीसालाण मूल-रुदेहिं।
मूलोवरि-भागेसुं, समाण-वासाओ वेदीओ॥(802)

विशेषता मात्र यह है कि इन वेदियों के मूल और उपरिम भाग का विस्तार अपने-अपने धूलिसालों के मूल विस्तार के सदृश होता है।

यथा (1) 24/144 (2) 23/144 (3) 22/144 (4) 21/144 (5) 20/144 (6) 19/144 (7) 18/144 (8) 17/144 (9) 16/144

(10) 15/144 (11) 14/144 (12) 13/144 (13) 12/144 (14)
 11/144 (15) 10/144 (16) 9/144 (17) 8/144 (18) 7/144
 (19) 6/144 (20) 5/144 (21) 4/144 (22) 3/144 (23)
 5/288 (24) 1/72।

आदि पुराण में भी इसका वर्णन निम्न प्रकार से पाया जाता है—

उस लता वन के भीतर की ओर कुछ मार्ग उल्लंघन कर निषध पर्वत के आकार का सुवर्णमय पहला कोट था। जो कि उस समवसरण भूमि को चारों ओर से घेरे हुए था। उस समवसरण भूमि के चारों ओर स्थित हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो। उस कोट को देखकर ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी आँगन को चित्र-विचित्र करने वाला सैकड़ों इन्द्रधनुषों का समूह ही कोट के बहाने से आकर उस समवसरण भूमि को अलंकृत कर रहा हो। उस कोट के ऊपरी भाग पर स्पष्ट दिखाई देते हुए जो मोतियों के समूह जड़े हुए थे। वे क्या यह ताराओं का समूह है, इस प्रकार लोगों की शंका के स्थान हो रहे थे। उस कोट में कहीं-कहीं जो मूँगाओं के समूह लगे हुए थे। वे पद्मरागमणियों की किरणों से और भी अधिक लाल हो गये थे और सन्ध्याकाल के बादलों की शोभा प्रकट करने के लिए समर्थ हो रहे थे। वह कोट कहीं तो नवीन मेघ के समान काला था, कहीं धास के समान हरा था, कहीं इन्द्रगोप के समान लाल-लाल था, कहीं बिजली के समान पीला-पीला था और कहीं अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से इन्द्रधनुष की शोभा उत्पन्न कर रहा था। इस प्रकार वह वर्षाकाल की शोभा की विडम्बना कर रहा था। वह कोट कहीं तो युगल रूप से बने हुए हाथी-घोड़े और व्याघ्रों के आकार से व्याप हो रहा था, कहीं तोते, हंस और मयूरों के जोड़ों से सुशोभित हो रहा था, कहीं भीतर और बाहर की ओर से बनी हुई कल्पलताओं से चित्रित हो रहा था, कहीं पर चमकते हुए रत्नों की किरणों से हसँता हुआ-सा जान पड़ता था और कहीं पर फैलती हुई प्रतिध्वनि से सिंहनाद करता हुआ सा जान पड़ता था। जिसका आकार बहुत ही देदीप्यमान है, जिसने अपने चमकीले रत्नों की किरणों से आकाशरूपी आँगन को घेर लिया है और जो निषध कुलाचल के साथ ईर्ष्या करने वाला है ऐसा वह कोट

बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था। (आदिपुराण, पृ. 519)

(10) खानिका-

खाइय-खेत्ताणि तदो, हवंति वर-सच्छ-सलिल-पुण्णाइं।
 णिय-णिय-जिण-उदरहिं, चउ-भजिदेहिं सरिच्छ-गहिराणि ॥(803)

इसके आगे उत्तम एवं स्वच्छ जल से परिपूर्ण और अपने-अपने जिनेन्द्र की ऊर्चाई के चतुर्थ भाग प्रमाण गहरे खतिका-क्षेत्र होते हैं। यथा (1) 125 225/2 (2) 100 175/2 (3) 75 125/2 (4) 50 75/2 (5) 25 45/2 (6) 20 35/2 (7) 15 25/2 (8) 45/4 (9) 10 35/4 (10) 15/2 (11) 25/4 (16) 5 15/4 (17) 5/2 हत्या (12) 9/4 (13) 7/4।

फुल्लंत-कुमुद-कुवलय-कमल-वणामोद-भर-सुगंधीणि।
 मणिमय-सोवाणाणि, जुदाणि पक्खीहि हंस-पहुदीहि ॥(84)

ये खातिकाएँ फूले हुए कुमुद, कुवलय और कमल-वनों के आमों से सुगन्धित तथा मणिमय सोपानों एवं हंसादि पक्षियों सहित होती हैं।

णिय-णिय-पद्म-खिदीण, जेत्तियमेत्तं खु वास-परिमाणं।
 णिय-णिय-बिदिय-खिदीण, तेत्तियमेत्तं च पत्तेयं ॥(805)

अपनी-अपनी प्रथम पृथिवी के विस्तार का जितना प्रमाण होता है, उतना ही विस्तार अपनी-अपनी प्रत्येक द्वितीय पृथिवी का भी हुआ करता है। यथा (1) 264/576 (2) 253/576 (3) 242/576 (4) 231/576 (5) 220/576 (6) 209/576 (7) 198/576 (8) 187/576 (9) 176/576 (10) 165/576 (11) 154/576 (12) 143/576 (13) 132/576 (14) 121/576 (15) 110/576 (16) 99/576 (17) 88/576 (18) 7/576 (19) 66/576 (20) 55/576 (21) 44/576 (22) 33/576 (23) 55/288 (24) 11/72।

चेत्पासाद-खिदिं, केई णेच्छंति ताण उवएसे।
खाइय-खिदीण जोयणमुरहे सेसेसु कम-हीणं ॥(806)

कोई-कोई आचार्य चैत्य-प्रासाद भूमि को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके उपदेशानुसार कृष्णभद्र के समवसरण में खातिका-भूमिका विस्तार एक योजन प्रमाण था और शेष तीर्थकरों के समवसरण में क्रमशः हीन-हीन था। (ति.प.पृ.237)

11. दूसरी वेदी एवं वल्लो क्षेत्र का विस्तार

बिदियाओ वेदीओ, णिय-णिय-पढ़मिल्ल वेदियाहि समा।
एसो णवरि विसेसो, वित्थारो दुगुण परिमाणं ॥(807)

ति.प.भा.॥ पृ. 241

दूसरी वेदियाँ अपनी-अपनी पूर्व-वेदिकाओं के सदृश हैं। परन्तु विशेषता यह है कि इनका विस्तार दुगुने-दुगुने प्रमाण है।

12. तृतीय लता भूमि-

पुण्णाग-णाग कुञ्ज्य-सयवत्तइमुत्त पहुदिजुत्ताणि।
वल्ली खेत्ताणि तदो, कीडण गिरि गुरुव सोहाणि ॥(808)

मणि सोवाण मणोहर पोक्खरणी फुल्ल कमल संडाणि।
ताणं रुंदो दुगुणो, खाइय खेत्ताण रुंदादो ॥(809)

इसके आगे पुन्नाग, नाग, कुञ्जक, शतपत्र एवं अतिमुक्त आदि से संयुक्त, कीड़ा पर्वतों से अतिशय शोभायमान और मणिमय-सोपानों से मनोहर, पिकाओं से विकसित कमल-समूहों सहित वल्ली क्षेत्र होते हैं। इनका विस्तार खातिकाक्षेत्रों के विस्तार से दुगुना रहता है।

13. दूसरा कोट-

तत्तो बिदिया साला, धूलीसालाण वण्णणेहि समा।
दुगुणो रुंदो दारा, रजदमया जक्ख रक्खणा णवरि ॥(810)

इसके आगे दूसरा कोट है, जिसका वर्णन धूलिसालों के सदृश ही है परन्तु इतना विशेष है कि इसका विस्तार दुगुना है और इसके द्वारा रजतमय है। यह कोट यक्ष जाति के देवों द्वारा रक्षित है।

14. उपवन भूमि-

तत्तो चउत्थ उववण, भूमीए असोय सत्तपण्ण वणा।
चंपय चूद वणाइं, पुव्वादि दिसासु राजंति ॥(811)

इसके आगे चौथी उपवन भूमि होती है, जिसमें पूर्वादि दिशाओं के क्रम से अशोक वन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन, ये चार वन शोभायमान होते हैं।

विविह-वणसंड-मंडण-विविह णई-पुलिण कीडण-गिरीहिं।
विविह वर वाविआहिं, उववण भूमीउ रम्माओ ॥(812)

ये उपवन भूमियाँ विविध प्रकार के वन समूहों से मणिडत, विविध नदियों के पुलिन और क्रीड़ा पर्वतों से तथा अनेक प्रकार की उत्तम वापिकाओं से रमणीय होती हैं।

एककेक्काए उववण खिदिए तखो असोय सत्तदला।
चंपय चूदा सुंदर-रुवा चत्तारि चत्तारि ॥(813)

एक एक उपवन भूमि में, अशोक, सप्तच्छद, चम्पक एवं आम्र ये चार-चार सुन्दर रूप वाले वृक्ष होते हैं।

चैत्यवृक्षों की ऊँचाई एवं जिन प्रतिमाएं

चामर पहुदि जुदाण, चत्ते तरुणं हवंति उच्छेहा।
णिय णिय जिण-उदयति, बारस गुणिदेहि सारिच्छा ॥(814)

चामरादि हित चैत्यवृक्षों की ऊँचाई बारह से गुठित अपने-अपने तीर्थकरों की ऊँचाई के सदृश्य होती है।

मणिमय जिण पडिमाओ, अद्व महापाडिहर जुत्ताओ।
एककेक्कासिं चैत्तदुमम्मि, चत्तारि चत्तारि ॥(815)

एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त चार-चार मणिमय जिन-प्रतिमायें होती हैं।

सात भव निरीक्षण:-

उववण-वावि-जलेहिं, सित्ता पैच्छंति एक भव जाइं।
तरस्स णिरिक्खण-मेत्ते, सत्त-भवातीद-भावि-जादीओ ॥(816)

उपवन की वापिकाओं के जल से अनिषिक जन-समूह, एक भवजाति (जन्म) को देखते हैं, तथा उनके (वापी के जल में) निरिक्षण करने पर अतीत एवं अनागत सम्बन्धी सात भव जातियों को देखते हैं।

मानस्तम्भ का विवेचन:-

सालत्तय-परिअरिया, पीढ-त्तय उवरि माणथंभा य।
चत्तारो चत्तारो, एककेक्के चेत्त-रुखम्भि ॥(817)

एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित तीन कोटों से वेष्टित एवं तीन पीठों के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं।

सहिदा वर-वावीहिं, कमलुप्पल-कुमुद-परिमलिलाहिं।
सुर-णर-मिहुण-तणुग्य-कुंकुम-पंकेहि पिंजर-जलाहिं ॥(818)

ये मानस्तम्भ कमल, उत्पल एवं कुमुदों की सुगन्ध से युक्त तथा देव और मनुष्य युगलों के शरीर से निकली हुई केशर के पङ्क से पीत जलवाली उत्तम वापिकाओं सहित होते हैं।

कथ वि हम्मा रम्मा, कीडण-सालाओ कथ वि वराओ।
कथ की णट्य-साला, णच्चंत सुरंगणाइणा ॥(819)

वहाँ पर कहीं रमणीय भवन, कहीं उत्तम क्रीड़नशाला और कहीं नृत्य करती हुई देवाङ्गनाओं से आकीर्ण नाट्यशालाएँ होती हैं।

बहुभूमी-भूसणया, सव्वे वर-विविह-र्यण-णिम्मविदा।
एदे पंति-कमेण, उववण-भूमीसु सोहंति ॥(820)

बहुत भूमियों (खण्डों) से भूषित तथा उत्तम और नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित ये सब भवन पंक्ति क्रम से उपवन भूमियों में शोभायमान होते हैं।

ताणं हम्मादीणं, सव्वेसु, होंति समवसरणेसु।
णिय-णिय-जिण-उदएहि, बारस-गुणिदेहि सम उदया ॥(821)

सर्व समवसरणों में इन हम्मादिकों की ऊँचाई बारह से गुणित अपने-अपने तीर्थकरों की ऊँचाई के बराबर होती हैं।

णिय-णिय-पढम-खिदीणं, जेत्तिय-मेत्तं हु रुंद-परिमाणं।
णिय-णिय-वण-भूमीणं, तेत्तिय-मेत्तं हवे दुगुणं ॥(822)

अपनी-अपनी प्रथम पृथिवी के विस्तार का जितना प्रमाण होता है, उससे दूना प्रमाण अपनी-अपनी उपवन-भूमियों के विस्तार का होता है।

(15) नृत्य-शाला:-

दो-द्वोसुं पासेसुं, सव्व-वण-प्पणिधि-सव्व-वीहीणं।
दो-द्वो णट्य-साला, ताण पुढं आदिमट्ठ-सालासु ॥(823)
भावण-सुर-कण्णाओ, णच्चंते कप्पवासि-कण्णोओ।
अग्निम-अड-सालासुं, पुव्वा व सुवण्णवा सव्वा ॥(824)

सर्व वनों के आश्रित सर्व विथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्य-शालाएँ होती हैं। इनमें से आदि की आठ नाट्यशालाओं में भवन वासिनी देव-कन्याएँ और इससे आगे की आठ नाट्यशालाओं में कल्पवासिनी कन्याएँ नृत्य करती हैं। इन नाट्य-शालाओं का सुन्दर वर्णन पूर्व के सदृश ही है।

(16) तृतीय वेदी

तदियाओ वेदीओ, द्ववंति णिय-बिदियाहि समा ॥
णवरि विसेसो एसो, जक्खिंदा दार-रक्खणया ॥(825)॥

तीसरी वेदियाँ अपनी-अपनी दूसरी वेदियों के सदृश होती हैं। केवल

विशेषता यह है कि यहां पर यक्षेन्द्र द्वारा-रक्षक हुआ करते हैं।

आदि पुराण में भी जिनसेनाचार्य ने वनवेदिका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

वनवेदिका

उन कल्पवृक्षों की वनवीथि को भीतर की ओर चारों तरफ से वनवेदिका धेरे हुए थी, वह वनवेदिका सुवर्ण की बनी हुई थी, और चार गोपुरद्वारों से सहित थी। उन गोपुरद्वारों में तोरण और मंगलद्रव्यरूप सम्पदाओं का वर्णन पहले ही किया जा चुका है तथा उनकी लम्बाई, चौड़ाई आदि भी पहले के समान ही जानना चाहिए। उन गोपुर-द्वारों के आगे भीतर की ओर बड़ा लम्बा-चौड़ा रास्ता था और उसके दोनों ओर देवरूप कारीगरों के द्वारा बनायी हुई अनेक प्रकार के मकानों की पंक्ति थी। जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्ण के बने हुए हैं, जिनके अधिष्ठान-बन्धन अर्थात् नींव वज्रमयी हैं, जिनकी सुन्दर दीवालें चन्द्रकान्तमणियों की बनी हुई हैं और जो अनेक प्रकार के रत्नों से चित्र-विचित्र हो रहे हैं ऐसे वे सुन्दर मकान कितने ही दो खण्ड के थे, कितने ही तीन खण्ड के और कितने ही चार खण्ड के थे, कितने ही चन्द्रशालाओं (मकानों के ऊपरी भाग) से सहित थे तथा कितने ही अद्वालिका आदि से सुशोभित थे। जो अपनी ही प्रभा में छूबे हुए हैं ऐसे वे मकान अपने शिखरों के अग्रभाग से आकाश का स्पर्श करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चाँदनी से ही बने हों। कहीं पर कूटागार (अनेक शिखरों वाले अथवा झुला देने वाले मकान), कहीं पर सभागृह और कहीं पर प्रेक्षागृह (नाट्यशाला अथवा अजायबघर) सुशोभित हो रहे थे, उन कूटागार आदि में शर्याएँ बिछी हुई थी, आसन रखे हुए थे, ऊँची ऊँची सीढ़ियाँ लगी हुई थीं और उन सब ने अपनी कान्ति से आकाश को सफेद-सफेद कर दिया था। उन मकानों में देव, गन्धर्व, सिद्ध (एक प्रकार के देव), विद्याधर, नागकुमार और किन्नर जाति के देव बड़े आदर के साथ सदा क्रीड़ा किया करते थे। उन देवों में कितने ही देव तो गाने में उद्यत थे और कितने ही बाजा बजाने में तत्पर थे, इस प्रकार वे देव संगीत और नृत्य आदि की गोष्ठियों द्वारा भगवान् की आराधना कर रहे थे। (आदिपुराणम्, पृ.532, पर्व 22)

परिखा-

उन बावड़ियों से थोड़ी ही दूर आगे जाने पर प्रत्येक बीथी (गली) को छोड़कर जल से भरी हुई एक परिखा थी जो कि कमलों से व्याप थी और समवसरण की भूमि को चारों ओर से धेरे हुए थी। स्वच्छ जल से भरी हुई और मनुष्यों को पवित्र करने वाली वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो परिखा का रूप धरकर आकाशगंगा ही भगवान् की सेवा करने के लिए आयी हो। वह परिखा स्फटिकमणि के निष्पन्द के समान जल से भरी हुई थी और उसमें समस्त तारा तथा नक्षत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, इसलिए वह आकाश की शोभा धारण कर रही थी। वह परिखा अपने रत्नमयी किनारों पर मधुर शब्द करती हुई पक्षियों की माला धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरों रूपी हाथों से पकड़ने योग्य, उत्तम कान्तिवाली कर धनी ही धारण कर रही हो। जलचर जीवों की भुजाओं के संघटन से उठी हुई और वायु द्वारा ताड़ित हुई। लहरों से वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के विजयोत्सव में सन्तोष से नृत्य ही कर रही हो। लहरों के भीतर धूमते-धूमते जब कभी ऊपर प्रकट होने वाली मछलियों के समूह से भरी हुई वह परिखा ऐसी जान पड़ती थी मानों देवांगनाओं के नेत्रों के विलासों (कटाक्षों) का अन्यास ही कर रही हो। जो मछलियाँ उस परिखा की लहरों के बीच में बार-बार छूब रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों देवांगनाओं के नेत्रों के विलासों से पराजित होकर ही लज्जावश लहरों में छिप रही थीं। (आदिपुराण, पृ.517)

लतावन

उस परिखा के भीतरी भू-भाग को एक लतावन धेरे हुए था, वह लतावन लताओं, छोटी-छोटी झाड़ियों और वृक्षों में उत्पन्न हुए सब ऋतुओं के फूलों से सुशोभित हो रहा था। उस लतावन में पुष्परूपी हास्य से उज्ज्वल अनेक पुष्पलताएँ सुशोभित हो रही थी। जो कि स्पष्ट रूप से ऐसी जान पड़ती थी मानों देवांगनाओं के मन्द हास्य का अनुकरण ही कर रही हों।

उस वन की लताएँ इस भाँति सुशोभित हो रही थी मानो उन्होंने अपना शरीर नील वस्त्र से ही ढक लिया हो। उस लतावन की अशोक लताएँ लाल-लाल नये पत्ते धारण कर रही थी। और उनसे वे ऐसी जान पड़ती थी मानो अप्सराओं के लाल-लाल हाथरूपी पलवर्वों के साथ स्पर्द्धा ही कर रही हों। मन्द-मन्द वायु के द्वारा उड़ी हुई केशर से व्याप हुआ और जिसने समस्त दिशाएँ पीली कर दी है ऐसा वहाँ का आकाश सुगन्धित चूर्ण (अथवा चैंदोबे) की शोभा धारण कर रहा था। उस लतावन में प्रत्येक फूल पर मधुर शब्द करते हुए भ्रमर बैठे हुए थे जिनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो हजार नेत्रों को धारण करने वाले इन्द्र के विलास की विडम्बना ही कर रहा हो। फूलों की मंजरियों के समूह से सघन पराग को ग्रहण करता हुआ और लताओं को हिलाता हुआ वायु उस लतावन के धीरे-धीरे बह रहा था। उस लतावन में बने हुए मनोहर क्रीड़ा पर्वत, शश्याओं से सुशोभित लतागृह और ठण्डी-ठण्डी हवा देवांगनाओं को बहुत ही सन्तोष पहुँचाती थी। उस वन में अनेक कुसुमित अर्थात् फूली हुई और रजस्वला अर्थात् पराग से भरी हुई लताओं का मधुव्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि मधुपायी अर्थात् मध्य पीनेवालों के पवित्रता कहाँ हो सकती है। भावार्थ-जिस प्रकार मधु (मदिरा) पान करने वाले पुरुषों के पवित्र और अपवित्र का कुछ भी विचार नहीं रहता, वे रजो धर्म से युक्त ऋतुमती स्त्री का भी स्पर्श करने लगते हैं, इसी प्रकार मधु (पुष्परस) का पान करने वाले उन भ्रमरों के भी पवित्र-अपवित्र का कुछ भी विचार नहीं था, क्योंकि वे ऊपर कही हुई कुसुमित और रजस्वला लतारूपी स्त्रियों का स्पर्श कर रहे थे। यथार्थ में कुसुमित और रजस्वला लताएँ अपवित्र नहीं होतीं। यहाँ कवि ने श्लेष और समासोक्ति अंलकार की प्रधानता से ऐसा वर्णन किया है। उस वन के लतागृहों के बीच में पड़ी हुई बर्फ के समान शीतल स्पर्शवाली चन्द्रकान्तमणि की शिलाएँ इन्द्रों के विश्राम के लिए हुआ करती थी। (आदिपुराण पृ. 518)

गोपुरद्वार

उस कोट के चारों दिशाओं में चौँदी के बने हुए चार बड़े-बड़े गोपुरद्वार सुशोभित हो रहे थे जो कि विजयार्ध पर्वत के शिखरों के समान आकाश का स्पर्श कर रहे थे। चौँदी के समूह के समान निर्मल, ऊँचे और तीन-तीन खण्ड वाले वे गोपुरद्वार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तीनों लोकों की शोभा को जीतकर हसँ ही रहे हों। वे गोपुरद्वार पद्मरागमणि के बने हुए और आकाश का उल्लंघन करने वाले शिखरों से सहित थे तथा अपनी फैलती हुई लाल-लाल किरणों के समूह से ऐसे जान पड़ते थे मानो दिशाओं को नये-नये कोमल पत्तों से युक्त ही कर रहे हों। इन गोपुर-दरवाजों पर कितने ही गाने वाले देव जगदगुरु भगवान् वृषभदेव के गुण गा रहे थे, कितने ही उन्हें सुन रहे थे और कितने ही मन्द-मन्द मुस्काते हुए नृत्य कर रहे थे। उन गोपुर-दरवाजों में से प्रत्येक दरवाजे पर भृंगार-कलश और दर्पण आदि एक सौ आठ मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ सुशोभित हो रही थी। तथा प्रत्येक दरवाजे पर रत्नमय आभूषणों की कान्ति के भार से आकाश को अनेक वर्ण का करने वाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे। उस प्रत्येक तोरणों में जो आभूषण बँधे हुए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वभाव से ही सुन्दर भगवान् के शरीर में अपने लिए अवकाश न देखकर उन तोरणों में ही आकर बँध गये हों। उन गोपुरद्वारों के समीप प्रदेशों में जो शंख आदि नौ निधियाँ रखी हुई थीं वे जिनेन्द्र भगवान् के तीनों लोकों को उल्लंघन करने वाले भारी प्रभाव को सूचित कर रही थी अथवा दरवाजे के बाहर रखी हुई वे निधियाँ ऐसी मालूम होती थी मानो मोहरहित, तीनों लोकों के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र देव ने उनका तिरस्कार कर दिया था इसलिए दरवाजे के बाहर स्थित होकर दूर से ही उनकी सेवा कर रही हों। (आदिपुराण, पृ. 520)

धूपघट

उन नाट्यशालाओं से कुछ आगे चलकर गलियों के दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए थे जो कि फैलते हुए धूप के धुएँ से आकाशरूप आँगन को व्याप कर रहे थे। उन धूपघटों के धुएँ से भरे हुए आकाश को देखकर

आकाश में चलने वाले देव अथवा विद्याधर असमय में ही वर्षाक्रतु के मेघों की आशंका करने लगे थे। मन्द-मन्द वायु के वश से उड़ा हुआ और दिशाओं को सुगन्धित करता हुआ वह धूप ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उच्छ्वास लेने से प्रकट हुई पृथिवी देवी के मुख की सुगन्ध ही हो। उस धूप की सुगन्धि को सूँघकर सब और फैली हुई भ्रमरों की पङ्क्तियाँ दिशारूपी स्त्रियों के मुखपर फैले हुए केशों की शोभा बढ़ा रहे थे। एक ओर उन धूपघटों से सुगन्धि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओं के मुख से सुगन्धित निश्वास निकल रहा था सो व्याकुल हुए भ्रमर दोनों को ही सूँघ रहे थे। वहाँ पर मेघों की गर्जना को जीतने वाले मृदंगों के शब्दों से तथा पड़ती हुई पुष्पवृष्टि से सदा वर्षाकाल विद्यमान रहता था।

(आदिपुराण, पृ.521, पर्व 22)

(17) ध्वज भूमि

तत्तो धय-भूमीए, दिव्व-धया होंति ते च दस-भेया।
सीह-गय-वसह-खगवइ-सिहि-ससि-रवि-हंस-पउम-चकका-य ॥(826)

इसके आगे ध्वज-भूमि में सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मधूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र इन चिन्हों से चिन्हित दस प्रकार की दिव्य ध्वजाएँ होती हैं।

अटुत्तर-सय-सहिया, एककेकका तं पि अटु-अहिय-सया।
खुल्लय-धय-संजुत्ता, पत्तेकं चउ-दिसासु-फुडं ॥(827)

चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन दस प्रकार की ध्वजाओं में से एक-एक ध्वजा एक सौ आठ रहती हैं और इनमें से भी प्रत्येक ध्वजा अपनी एक सौ आठ क्षुद्र ध्वजाओं से संयुक्त होती है।

सुण्ण-अड-अटु-णभ-सग-चउक्क-अंकक्कमेण-मिलिदाण।

सव्व-धयाणं संखा, एककेकके समवसरणम्हि ॥(828)

शून्य, आठ, आठ, शून्य, सात एवं चार अंकों के क्रमशः मिलाने पर जो संख्या उत्पन्न हो उतनी ध्वजाएँ एक-एक समवसरण में हुआ करती हैं। 10-10 प्रकार की महाध्वजाएँ चारों दिशाओं में हैं, अतः $10 \times 4 =$

40। प्रत्येक महाध्वजा 108, 108 है, अतः $108 \times 40 = 4320$ कुल महाध्वजाएँ हुई। इनमें से प्रत्येक महाध्वजा 108, 108 क्षुद्र ध्वजाओं सहित है। इस प्रकार ($4320 \times 108 = 466560$) + $4320 = 470880$ कुल ध्वजाएँ एक समवसरण में होती हैं।

संलग्ना सयल-धया, कण्यत्थंभेसु रयण-खचिदेसु।
थंभुच्छेहों णिय-णिय-जिण-तणु-उदएहि बारस-हदेहि ॥(829)

समस्त ध्वजाएँ रत्नों से खचित स्वर्णमय स्तम्भों में संलग्न रहती हैं। इन स्तम्भों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थकरों के शरीर की ऊँचाई से बारह-गुणी हुआ करती है।

यथा (1) आदिनाथ की 500 धनुष $\times 12 = 6000$ धनुष (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23) 27 (24) 21।

स्तम्भों का विस्तार-

उसहम्मि थंभ-रुंदं, चउसट्टी-अहिय-दु-सय-पव्वणि।
तिय-भजिदाणि कमसो, एककरसूणाणि णेमि-पज्जंतं ॥(830)

पासम्मि थंम-रुंदा, पव्वा पणवण्ण छक्क-पविहत्ता।
चउदाला छक्क-हिदा, णिद्विठ्टा वडुमाणम्मि ॥(831)

ऋषभदेव के समवसरण में इन स्तम्भों का विस्तार तीन से भाजित दो सौ चौंसठ अंगुल था। फिर इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः भाज्य राशि में ग्यारह-ग्यारह कम होते गये हैं। पाश्वनाथ के समवसरण में इन स्तम्भों का विस्तार छह से विभक्त पचपन अंगुल और वर्धमान स्वामी के छह से भाजित-चवालिस अंगुल प्रमाण कहा गया है।

यथा (1) 264/3 अंगुल (2) 253/3 अंगुल (3) 242/3 अंगुल (4) 231/3 अंगुल (5) 22/3 अंगुल (6) 209/3 अंगुल (7) 198/3 अंगुल (8) 187/3 अंगुल (9) 176/3 अंगुल (10) 165/3 अंगुल

(11) 154/3 अंगुल (12) 143/3 अंगुल (13) 132/3 अंगुल (14)
 121/3 अंगुल (15) 110/3 अंगुल (16) 99/3 अंगुल (17) 88/3
 अंगुल (18) 77/3 अंगुल (19) 66/3 अंगुल (20) 55/3 अंगुल (21)
 44/3 अंगुल (22) 33/3 अंगुल (23) 55/6 अंगुल (24) 44/6
 अंगुल

ध्वजदण्डों का अन्तर

धय-दंडाणं अंतरमुसह-जिणे छरसयाणि चावाणि।
 चउवीसेहि हिदाणि, पण-कदि-हीणाणि जाव नेमि-जिणं ॥(832)
 पणुवीस-अहिय-धणु-सय, अडदाल-हिदं च पासणाहम्मि।
 वीर-जिणे एकक-सयं, तेत्तिय-मेत्तेहि अवहरिदं ॥(833)

ऋषभ जिनेन्द्र के समवसरण में ध्वज-दण्डों का अन्तर चौबीस से भाजित छह सौ धनुष प्रमाण था। फिर इसके आगे नेमि-जिनेन्द्र पर्यन्त भाज्य राशि से क्रमशः उत्तरोत्तर पांच का वर्ग अर्थात् पच्चीस-पच्चीस कम होते गए हैं। पाश्वर्नाथ तीर्थकर के समवसरण में इन ध्वज-दण्डों का अन्तर अडतालीस से भाजित एक सौ पच्चीस धनुष एवं वीर जिनेन्द्र के समवसरण में इतने मात्र (अडतालिस) से भाजित एक सौ धनुष-प्रमाण था।

यथा (1) 600/24 धनुष (2) 575/24 (3) 550/24 (4) 525/24
 (5) 500/24 (6) 475/24 (7) 450/24 (8) 425/24 (9)
 400/24 (10) 375/24 (11) 350/24 (12) 325/24 (13)
 300/24 (14) 275/24 (15) 250/24 (16) 225/24 (17)
 200/24 (18) 175/24 (19) 150/24 (20) 125/24 (21)
 100/25 (22) 75/24 (23) 125/48 (24) 100/48।

ध्वजभूमियों का विस्तार

णिय-णिय-वल्लि-खिदीणं, जेत्तिय-मेत्तो हवेदि वित्थारो।
 णिय-णिय-धय-भूमिणं, तेत्तीय-मेत्तो मुणेयव्वो ॥(834)

अपनी-अपनी लता-भूमियों का जितना विस्तार होता है उतना ही विस्तार

अपनी-अपनी ध्वजभूमियों का भी जानना चाहिए।

(1) 264/288 (2) 253/288 (3) 242/288 (4) 231/288 (5)
 220/288 (6) 209/288 (7) 198/288 (8) 187/288 (9)
 176/288 (10) 165/288 (11) 154/288 (12) 143/288 (13)
 132/288 (14) 121/288 (15) 110/288 (16) 99/288 (17)
 88/288 (18) 77/288 (19) 66/288 (20) 55/288 (21)
 44/288 (22) 33/288 (23) 55/576 (24) 44/576

(19) कल्पभूमि

पाणंग-तूरियंगा, भूसण-वत्थंग-भोयणंगा य।

आलय-दीविय-भायण-माला-तेयंगया तरओ ॥(837)

ति.प.पृष्ठ-252

इस भूमि में पानाङ्ग, तूर्याङ्ग, भूषणाङ्ग, वस्त्राङ्ग, भोजनाङ्ग, आलयाङ्ग, दीपाङ्ग, भाजनाङ्ग, मालाङ्ग और तेजाङ्ग ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं।

ते पाण-तूर-भूसण-वत्थाहारांगपद्मीवाणि।

भायण-माला-जोदिणी देती संकप्प-मेत्तेण ॥(837)

वे (कल्पवृक्ष) मनुष्यों को संकल्प मात्र से पानक, वाद्य, आभूषण, वस्त्र, भोजन, प्रासाद, दीपक, बर्तन, मालाएँ एवं तेजयुक्त पदार्थ देते हैं।

कथ वि वर - वावीओ, कमलुप्पल-कुमुद-परिमलिल्लाओ।

सुर-णर-मिहुण-तणुगाय-कुंकुम-पंकेहि पिंजर-जलाओ ॥(839)

कथ वि हम्मा रम्मा, कीडण-सालाओ कथ वि वराओ।

कथ वि पेक्खण-साला, गिज्जंत-जिणिंद-जय-चरिया ॥(840)

कल्प भूमि में कहीं पर कमल, उत्पल एवं कुमुदों की सुगन्ध से परिपूर्ण तथा देव एवं मनुष्य युगलों के शरीर से निकले हुए केशर के कर्दम से पीत-जलवाली उत्तम वापिकाएँ, कहीं पर रमणीय प्रासाद, कहीं पर उत्तम क्रीड़न- शालाएँ और कहीं पर जिनेन्द्रदेव के विजय-चरित्र के गीतों से युक्त

प्रेक्षण (नृत्य देखने की) शालाएँ होती हैं।

बहु-भूमि-भूसणया, सव्ये वर-विविह-र्यण-णिम्मविदा ।
एदे पंति-कमेण, सोहंते कप्प-भूमीसु ॥(841)

उत्तम नाना रत्नों से निर्मित और अनेक खण्डो (मंजिलो) से सुशोभित ये सब हम्र्यादिक (प्रासाद, क्रीड़ागृह, प्रेक्षागृह आदि) पंक्ति क्रम से इन कल्पभूमियों में शोभायमान होते हैं।

चत्तारो चत्तारो पुव्वादिसु महा णमेरु-मंदारा ।
संताण-पारिदा, सिद्धथा कप्प-भूमीसु ॥(842)

कल्पभूमियों पर पूर्वादिक दिशाओं में नमेरु, मन्दार, सन्तानक और परिजात, ये चार-चार महान् सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं।

सव्ये सिद्धथ-तरु, तिप्पायारा ति-मेहलसिरथा ।
एककेककस्स य तरुणो, मूले चत्तारि चत्तारि ॥(843)

सिद्धाणं पडिमाओ, विचित्त-पीढाओ र्यण-मझ्याओ ।
वंदण-मेत्त-णिवारिय-दुर्त-संसार-भीदीओ ॥(844)

ये सब सिद्धार्थ वृक्ष तीन कोटों से युक्त और तीन-मेखलाओं के ऊपर स्थित होते हैं। इनमें से प्रत्येक वृक्ष के मूल भाग में अद्भुत पीठों से संयुक्त और वन्दना करने मात्र से ही दुरन्त संसार के भय को नष्ट करने वाली रत्नमय चार-चार प्रतिमाएँ सिद्धों की होती हैं।

सालत्तय-संवेदिय-ति-पीढ-उवरम्मि माणथंभाओ ।
चत्तारो चत्तारो, सिद्धथ-तरुम्मि एककेकके ॥(845)

एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष के आश्रित, तीन कोटों से संवेषि पीठत्रय के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं।

कप्पतरु सिद्धथा, कीडण-सालाओ तासु पासादा ।
णिय-णिय-जिण-उदयेहि बारस-गुणिदेहि सम-उदया ॥(846)

कल्पभूमियों में स्थित सिद्धार्थ-कल्पवृक्ष, क्रीड़नशालाएँ एवं प्रासाद बारह से गुणित अपने-अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई सदृश ऊँचाई वाले होते हैं। यथा (1) आदिनाथ की 500 धनुष \times 12 = 6000 धनुष (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23) 27 (24) 21

कल्पभूमि स्थित नाट्यशालाएँ-

कप्प-तरु-भूमि-पणिधिसु, वीहिं पडि दिष्व-र्यण णिम्मविदा ।
चउ चउ णद्वय-साला-णिय-चेत-तरुहि सरिस-उच्छेहो ॥(847)

कल्पतरु-भूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के आश्रित दिव्य रत्नों से निर्मित और अपने चैत्य-वृक्षों के सदृश ऊँचाई वाली चार-चार नाट्य शालाएँ होती हैं।

यथा (1) आदिनाथ की 500 धनुष \times 12 = 6000 धनुष (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23) 27 (24) 21

पण-भूमि-भूसिदाओ, सव्याओ दु-तीस-रंग-भूमीओ ।
जोइसिय-कण्णयाहि, पणच्चमाणाहि रम्माओ ॥(848)

सर्व नाट्यशालाएँ पाँच भूमियों (खण्डों-मंजिलों) से विभूषित, बत्तीस रंग भूमियों सहित और नृत्य करती हुई ज्योतिषी कन्याओं से रमणीय होती हैं।

कल्प भूमि का वर्णन जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण में निम्न प्रकार से किया है-

कल्पद्रुमाः समुचुङ्गाः सच्छायाः फलशालिनः।

नानास्त्रगवस्त्रभूषाढया राजायन्ते रम संपदा॥(245)

पृ.530

उस वन के कल्पवृक्ष बहुत ही ऊँचे थे, उत्तम छाया वाले थे, फलों से सुशोभित थे और अनेक प्रकार की माला, वस्त्र तथा आभूषणों से सहित ऐसलिए अपनी शोभा से राजाओं के समान जान पड़ते थे क्योंकि राजा भी बहुत ऊँचे अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ अथवा उदार होते हैं, उत्तम छाया अर्थात् गन्ति से युक्त होते हैं, अनेक प्रकार की वस्तुओं की प्राप्तिरूपी फलों से सुशोभित होते हैं और तरह-तरह की माला, दस्त्र तथा आभूषणों से युक्त होते हैं।

देवोदक्कुरुवो नूनभागताः सेवितुं जिनम्।

दशप्रभेदैः स्वैः कल्पतरुभिः श्रेणि सात्कृतैः॥(246)

उन कल्पवृक्षों को देखकर ऐसा मालूम होता था मानो अपने दस प्रकार कल्पवृक्षों की पक्षियों से युक्त हुए देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवान् की वा करने के लिए आये हों।

फलान्याभरणान्येषाभंशुकानि च पल्लवाः।

स्त्रजः शाखाग्रलम्बिन्यो महाप्रारोहयष्टयः॥(247)

उन कल्पवृक्षों के फल आभूषणों के समान जान पड़ते थे, नवीन कोमल ते वस्त्रों के समान मालूम होते थे और शाखाओं के अग्रभाग पर लटकती ई मालाएँ बड़ी-बड़ी जटाओं के समान सुशोभित हो रही थीं।

तेषामधः स्थलच्छायामध्यासीनाः सुरोरगाः।

स्वावासेषु धृतिं हित्वा चिरं तत्रैव रेमिरे॥(248)

उन वृक्षों के नीचे छाया तल में बैठे हुए देव और धरणेन्द्र अपने-अपने वनों में प्रेम छोड़ कर वहीं पर चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते थे।

ज्योतिष्का ज्योतिरङ्गेषु दीपाड़नेषु च कल्पजाः।

भावनेन्द्राः स्त्रगङ्गेषु यथायोग्यां धृतिं दधुः॥(249)

ज्योतिष्कदेव ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों में, कल्पवासी देव दीपांग जाति के कल्पवृक्षों में और भवन वासियों के इन्द्र मालांग जाति के कल्पवृक्षों में यथायोग्य प्रीति धारण करते थे। भावार्थ-जिस देव को जो वृक्ष अच्छा लगता था वे उसी के नीचे क्रीड़ा करते थे।

स्त्रग्निं साभरणं भास्वदंशुकं पल्लवाधरम्।

ज्वलद्वीपं वनं कान्तं वधूवरभिवारुचत्॥(25)

वह कल्पवृक्षों का वन वधू-वर के समान सुशोभित हो रहा था क्यों कि जिस प्रकार वधू वर मालाओं से सहित होते हैं उसी प्रकार वह वन भी मालाओं से सहित था, वधू-वर जिस प्रकार आभूषणों से युक्त होते उसी प्रकार वह वन भी आभूषणों से युक्त था, जिस प्रकार वधू-वर सुन्दर पहिने रहते हैं उसी प्रकार उस वन में सुन्दर तग्जन लग देते हुए थे, जिस प्रकार वर-वधू के अधर (ओठ) पल्लव के समान लाल होते उसी प्रकार उस वन के पल्लव (नये पत्ते) लाल थे। वर-वधू के आस-पास जिस प्रकार दीपक जला करते हैं उसी प्रकार उस वन में भी दीपक जल रहे थे और वर-वधू जिस प्रकार अतिशय सुन्दर होते हैं उसी प्रकार वह वन भी अतिशय सुन्दर था। भावार्थ-उस वन में कहीं मालांग जाति के वृक्षों पर मालाएँ लटक रहीं थीं, कहीं भूषणांग जाति के वृक्षों पर भूषण लटक रहे थे, कहीं वस्त्रांग जाति के वृक्षों पर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र टैगे हुए थे, कहीं उन वृक्षों में नये-नये, लाल-लाल पत्ते लग रहे थे, और कहीं दीपांग जाति के वृक्षों पर अनेक दीपक जल रहे थे।

अन्तर्वर्णमथाभूवन्निह

सिद्धार्थपादपाः।

सिद्धार्थधिष्ठिता धीद्वबुध्ना ब्रध्ना इवोद्रचः॥(251)

उन कल्पवृक्षों के मध्य भाग में सिद्धार्थ वृक्ष थे, सिद्ध भगवान् की प्रतिमाओं से अधिष्ठित होने के कारण उन वृक्षों के मूल भाग बहुत ही दैदीप्यमान हो रहे थे और उन सबसे वे वृक्ष सूर्य के समान प्रकाशमान हो रहे थे।

चैत्यद्रमेषु पूर्वोक्ता वर्णनात्रापि योज्यताम्।
किं तु कल्पद्रुमा ऐते संकलिप्तफलप्रदाः ॥(252)

पहले चैत्यवृक्षों में जिस शोभा का वर्णन किया गया वह सब इन सिद्धार्थवृक्षों में भी लगा लेना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी ही है कि ये कल्पवृक्ष अभिलषित फल के देने वाले थे।

कूचिद्र वाप्यः कूचिन्द्रिः कूचित् सैकतमण्डलम्।
कूचित्सभागगृहादीनि बभुत्र वनान्तरे ॥(253)

उन कल्पवृक्षों के वनों में कहीं बावड़ियाँ, कहीं नदियाँ, कहीं बालू के ढेर और कहीं सभागृह आदि सुशोभित हो रहे थे।

(22) भवन-भूमियाँ

तत्तो भवण-खिदीओ, भवणाइं तासु रथण रइदाइं।
धुव्वत-धय-वडाइ, वर-तोरण-तुंग-दाराइ ॥(850)

ति.प.पृष्ठ 256

इससे आगे भवन-भूमियाँ होती हैं, जिनमें फहराती हुई ध्वजा-पताकाओं सहित एवं उत्तम तोरण युक्त उन्नत द्वारों वाले रत्ननिर्मित भवन होते हैं।

सुर-मिहुण-गेय-णच्चण-तूर-रवेहिं जिणाभिसेएहिं।
सोहंते ते भवणा, एककेक्के भवण-भूमीसु ॥(851)

भवन-भूमियों पर स्थित वे एक-एक भवन सुर-युगलों के गीत, नृत्य एवं बाजों के शब्दों से तथा जिनाभिषेकों से शोभायमान होते हैं।

उववण-पहुदिं सर्वं, पुवं विय भवण-भूमि-विक्खंभो।
णिय-पढम-वेदि-वासे, गुणिदे एककारसेहिं सारिच्छा ॥(852)

यहां उपवनादिक सब पूर्व सदृश ही होते हैं। उपर्युक्त भवन-भूमियों का विस्तार ग्यारह से गुणित अपनी प्रथम वेदीक विस्तार सदृश है।

(23) स्तूपों का वर्णन

भवण-खिदि-प्पणिधीसुं, वीहिं पडि होति णव-णवा थूहा।
जिण-सिद्ध-प्पडिमाहिं, अप्पडिमाहिं समाइणा ॥(853)

भवन-भूमि के पाश्व भागों में प्रत्येक वीथी के मध्य में जिन (अर्हन्त) और सिद्धों की अनुपम प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं।

छत्तादि-विभव-जुत्ता, णच्चंत-विचित्त-धय-वलालोला।
अड-मंगल-परियरिया, ते सव्वे दिव्व-रथणमया ॥(854)

वे सब स्तूप छत्तादि वैभव से संयुक्त, फहराती हुई ध्वजाओं के समूह से चञ्चल, आठ मंगल द्रव्यों से सहित और दिव्य-रत्नों से निर्मित होते हैं।

एककेक्केसिं थूहे, अंतर्यं मयर-तोरणाण रायं।
उच्छेहो थूहाणं, णिय-चेता-दुमाण उदय-समं ॥(855)

एक-एक स्तूप के बीच में मकराकार सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई इनके अपने चैत्यवृक्षों की ऊँचाई सदृश होती है।

यथा (1) 6000 धनुष (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600
(6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11)
960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17)
420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23)
27 (24) 21

भव्वाभिसेय-णच्चण-पदाहिणं तेसु कुव्वंति ॥(856)

भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा करते हैं।

(24) चतुर्थ कोट

तत्तो चउत्थ-साला, हवेइ आयास-फलिह-संकासा।
मरणय-मणिमय-गोउर-दार-चउक्केण रमणिज्जा ॥(857)

(ति.प.पृ.258)

इसके आगे निर्मल-स्फटिक रत्न सदृश और मरकत-मणिमय चार-गोपुरद्वारों से स्मणीय ऐसा चतुर्थ कोट होता है।

वर-रयण-दंड-मंडल-भुज-दंडा कप्पवासिणो देवा।
जिणपाद-कमल-भत्ता, गोउर-दाराणि-रक्खंति ॥(858)

जिनके भुजदण्ड उत्तम रत्नमय दण्डों से मणिडत हैं और जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों में जिनकी भक्ति है ऐसे कल्पवासी देव यहाँ गोपुरद्वारों की रक्षा करते हैं।

सालाण विक्खंभो,-कोसं चउवीस वसह-णाहमि।
अडसीदि-दुसय-भजिदा एक्कूणा जाव णेमि-जिणं ॥(859)

वृषभनाथ भगवान् के समवसरण में कोट का विस्तार दो सौ अठासी से भाजित चौबीस कोस प्रमाण था। इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः एक-एक कोस कम हाता गया है। यथा-(1) आदिनाथ के 24/288 (2) 23/288 (3) 22/288 (4) 21/288 (5) 20/288 (6) 19/288 (7) 18/288 (8) 17/288 (9) 16/288 (10) 15/288 (11) 14/288 (12) 13/288 (13) 12/288 (14) 11/288 (15) 10/288 (16) 9/288 (17) 8/288 (18) 7/288 (19) 6/288 (20) 5/288 (21) 4/288 (22) 3/288।

पणवीसाहिय-छस्सय-दंडा छत्तीस-संविहत्था य।
पासम्मि वड्ढमाणे, णव-हिद-पणुवीस-अहिय-सयं ॥(860)

भगवान् पाश्वनाथ समवसरण में कोट का विस्तार छत्तीस से विभक्त छह सौ पच्चीस धनुष और वर्धमान स्वामी के कोट का विस्तार नौ से भाजित एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण था। यथा - (23) 625/36, (24) 125/9।

25 श्रीमण्डपभूमि

अह सिरि-मंडव-भूमी, अद्वमया अणुवमा मणोहरया।
वर-रयण-थंभ-धरिया, मुत्ता-जालाइ-कय-सोहा ॥(861)

(ति.प.पृ.259)

इसके पश्चात् अनुपम, मनोहर, उत्तम रत्नों के स्तम्भों पर स्थित और मुका जालादि से शोभायमान आठवीं श्रीमण्डपभूमि होती है।

णिम्मल-पलिह-विणिम्मिय-सोलस-भित्तीण अंतरे कोट्टा।
बारस ताण उदओ, णिय-जिण-उदएहि बारस-हदेहि ॥(862)

निर्मल स्फटिक से निर्मित सोलह दीवालों के मध्य बारह कोठे होते हैं। इन कोठों की ऊँचाई अपने-अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारह-गुणी होती है। यथा (1) आदिनाथ की 500 धनुष \times 12 = 6000 धनुष (2) 5400 (3) 4800 (4) 4200 (5) 3600 (6) 3000 (7) 2400 (8) 1800 (9) 1200 (10) 1080 (11) 960 (12) 840 (13) 720 (14) 600 (15) 540 (16) 480 (17) 420 (18) 360 (19) 300 (20) 240 (21) 180 (22) 120 (23) 27 (24) 21

वीसाहिय-कोस-सयं, रुदं कोट्टाण उसह-णाहमि।

बारस-वग्गेण हिदं, पणहीण जाव णेमि-जिणं ॥(863)

पास-जिणे पणवीसा, अडसीदि-अहिय-दुसय-पविहत्ता।

वीर-जिणिंदे दंडा-पंच-घणा दस-हदा य णव-भजिदा ॥(864)

ऋषभतीर्थकर के समवसरण में कोठों का विस्तार बारह के वर्ग (144) से भाजित एक सौ बीस कोस प्रमाण था। इसके आगे नेमिनाथ पर्यंत क्रमशः उत्तरोत्तर पाँच-पाँच कम होते गये हैं। पार्श्व जिनेन्द्र के यह विस्तार दो सौ अठासी से भाजित पच्चीस कोस और महावीर के पाँच के घन को दस से गुणाकर नौ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने धनुष प्रमाण था। यथा-(1) आदिनाथ के 120/144 (2) 115/144 (3) 110/144 (4) 105/144 (5) 100/144 (6) 95/144 (7) 90/144 (8) 85/144 (9) 80/144 (10) 75/144 (11) 70/144 (12) 65/144 (13) 60/144 (14) 55/144 (15) 50/144 (16) 45/144 (17) 40/144 (18) 35/144 (19) 30/144 (20) 25/144 (21) 20/144 (22) 15/144 (23) 25/288 (24) 1250/9

आदि पुराण में श्रीमण्डप का वर्णन निम्न प्रकार पाया जाता है:-

ततः खस्फटिकात् सालादापीठान्तं समायताः ।

भित्तयः षोडशाभूवन् महावीथ्यन्तराश्रिताः ॥(277)

(पृ.534, 22 पर्व)

तदनन्तर उस आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणि के कोट से लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी और महावीथियों (बड़े-बड़े रास्तों) के अन्तराल में आश्रित सोलह दीवालें थीं।

चारों दिशाओं की चारों महावीथियों के अगल-बगल दोनों ओर आठ दीवालें थीं और दो-दो के हिसाब से चारों विदिशाओं में भी आठ दीवालें थीं इस प्रकार सब मिलाकर सोलह दीवालें थीं। ये दीवालें स्फटिक कोट से लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी थीं और बारह सभाओं का विभाग कर रही थीं।

नभःस्फटिकनिर्माणः

प्रसरन्निर्मलत्विषः ।

साद्यपीठतटालग्ना ज्योत्तनायन्ते रम भित्तयः ॥(278)

जो आकाशस्फटिक से बनी हुई हैं, जिनकी निर्मल कान्ति चारों और फैल रही है और जो प्रथम पीठ के किनारे तक लगी हुई हैं ऐसी वे दीवालें चाँदनी के समान आचरण कर रहीं थीं।

शुचयो दर्शिताशेषवस्तुविम्बा महोदयाः ।

भित्तयस्ता जगद्वृत्तरधिविद्या इवाबभुः ॥(279)

वे दीवालें अतिशय पवित्र थीं, समस्त वस्तुओं के प्रतिबिम्ब दिखला रहीं थीं और बड़े भारी ऐश्वर्य के सहित थीं इसलिए ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानो जगत् के भर्ता भगवान् वृषभदेव की श्रेष्ठ विद्याएँ हैं।

तासामुपरि विस्तीर्णे रत्नस्तम्भैः समुद्धृतः ।

वियत्स्फटिकनिर्माणः सश्रीः श्रीमण्डपोऽभवत् ॥(280)

उन दीवालों के ऊपर रत्नमय खम्भों से खड़ा हुआ और आकाशस्फटिकमणि का बना हुआ बहुत बड़ा भारी शोभायुक्त श्रीमण्डप बना

हुआ था।

सत्यं श्रीमण्डपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः ।

नृसुरासुरसान्निध्ये रस्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ॥(281)

वह श्रीमण्डप वास्तव में श्रीमण्डप था क्योंकि वहाँ पर परमेश्वर भगवान् वृषभदेव ने मनुष्य, देव और धरेणन्द्रों के समीप तीनों लोकों को श्री (लक्ष्मी) स्वीकृत की थी।

यो बभावम्बरस्यान्तं बिम्बितान्याम्बरोपमः ।

त्रिजगज्जनतास्थानसंग्रहावासैभवः ॥(282)

तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान दे सकने के कारण जिसे बड़ा भारी वैभव प्राप्त हुआ है ऐसा वह श्रीमण्डप आकाश के अन्तभाग में ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रतिबिम्बित हुआ दूसरा आकाश ही हो।

उस श्रीमण्डप का ऐसा अतिशय था कि उसमें एक साथ तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान मिल सकता था, और वह अतिशय ऊँचा तथा स्वच्छ था।

यस्योपरितले मुक्ता गुह्यकैः कुसुमोत्कराः ।

विदधुरस्तारकाशंकामधोभाजां नृणां हृदि ॥(283)

उस श्रीमण्डप के ऊपर यक्षदेवों के द्वारा छोड़े हुए फूलों के समूह नीचे बैठे हुए मनुष्यों के हृदय में ताराओं की शंका कर रहे थे।

यत्र मत्तरु वद्भूंगसंसूच्याः कुसुमसजः ।

न म्लानिमीयुर्ज्ञानंधिच्छायाशैत्याश्रयादिव ॥(284)

उस श्रीमण्डप में मदोन्मत्त शब्द करते हुए भ्रमरों के द्वारा सूचित होने वाली फूलों की मालाएँ मानों जिनेन्द्र देव के चरण-कमलों की छाया की शीतलता के आश्रय से ही कभी म्लानता को प्राप्त नहीं होती थीं, कभी नहीं मुरझाती थीं।

उस श्रीमण्डप में स्फटिकमणि की दीवालों पर जो सफेद फूलों की

मालाएँ लटक रही थीं वे रंग की समानता के कारण अलग से पहचान में नहीं आती थीं परन्तु उन पर शब्द करते हुए जो काले-काले मदोन्मत्त भ्रमर बैठे हुए थे उनसे ही उनकी पहचान होती थी। वे मालाएँ सदा हरी-भरी रहती थीं-कभी मुरझाती नहीं थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के चरण-कमलों के शीतल छाया का आश्रय पाकर ही नहीं मुरझाती हों।

**नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः ।
विरुतै रगमद् व्यक्तिं यत्र साम्यदलक्षिता ॥(285)**

उस श्रीमण्डप में नील कमलों के उपहारों पर बैठी हुई भ्रमरों की पंक्ति रंग की सदृशता के कारण अलग से दिखाई नहीं देती थी केवल गुंजारशब्दों से प्रकट हो रही थी।

**योजनप्रभिते यस्मिन् सम्मुर्नृसुरासुराः ।
स्थिताः सुखमसंबाधमहो माहात्म्यमीशितुः ॥(286)**

अहा, जिनेन्द्र भगवान् का यह कैसा अद्भुत माहात्म्य था कि केवल एक योजन लम्बे-चौड़े उस श्रीमण्डप में समस्त मनुष्य, सुर और असुर एक-दूसरे को बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते थे।

**यस्मिन् शुचिमणिप्रान्तमुपेता हंससन्ततिः ।
गुणसाहश्ययोगेऽपि व्यज्यते स्म विकूजितैः ॥(287)**

उस श्रीमण्डप में स्वच्छ मणियों के समीप आया हुआ हंसों का समूह यद्यपि उन मणियों के समान रंगवाला ही था-उन्हीं के प्रकाश में छिप गया था तथापि वह अपने मधुर शब्दों से प्रकट हो रहा था।

**यद्भित्तयः स्वसंक्रान्तजगत्तियविभिकाः ।
चित्रिता इव संरेजुर्जगच्छीदर्पणश्रियः ॥(288)**

जिनकी शोभा जगत् की लक्ष्मी के दर्पण के समान है ऐसी श्रीमण्डप को उन दीवालों में तीनों लोकों के समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उन प्रतिबिम्बों से वे दीवालें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों उनमें अनेक प्रकार के चित्र ही खींचे गये हों।

उस श्री मण्डप की फैलती हुई कान्ति के समुदायरूपी जल से जिनके शरीर नहलाये जा रहे हैं ऐसे देव और दानव ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी तीर्थ में स्नान ही कर रहे हों।

उसी श्रीमण्डप से धिरे क्षेत्र के मध्यभाग में स्थित पहली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैदूर्यमणि की बनी हुई थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कुलाचल का शिखर ही हो। उस पीठिका पर सोलह जगह अन्तर देकर सोलह जगह ही बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। चार जगह तो चार महादिशाओं अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चार महावीथियों के सामने थीं और बारह जगह सभा के कोठों के प्रत्येक प्रवेशद्वार पर थीं। उस पीठिका को अष्ट मंगल द्रव्यरूपी सम्पदाएँ और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत कर रहे थे। जिनमें लगे हुए रत्नों की किरणें ऊपर की ओर उठ रही हैं ऐसे हजार-हजार आराओं वाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य के बिम्ब ही हों। उस प्रथम पीठिका पर सुवर्ण का बना हुआ दूसरा पीठ था, जो सूर्य की किरणों के साथ स्पर्धा कर रहा था और आकाश को प्रकाशमान बना रहा था। उस दूसरे पीठ के ऊपर आठ दिशाओं में आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं, जो बहुत ऊँची थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इन्द्रों को स्वीकृत आठ लोकपाल ही हों। चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और माला के चिह्न से सहित तथा सिद्ध भगवान् के आठ गुणों के समान निर्मल वे ध्वजाएँ बहुत अधिक सुशोभित हो रही थीं। वायु से हिलते हुए दैदीप्यमान वस्त्रों की फटकार से वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो पापरूपी धूलि का सम्मार्जन ही कर रही हों अर्थात् पापरूपी धूलि को झाड़ ही रही हों। उस दूसरे पीठ पर तीसरा पीठ था जो कि सब प्रकार के रत्नों से बना हुआ था, बड़ा भारी था और चमकते हुए रत्नों की किरणों से अन्धकार के समूह को नष्ट कर रहा था। वह पीठ तीन कटनियों से युक्त था तथा श्रेष्ठ रत्नों से बना हुआ था इसलिए ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उस पीठ का रूप धरकर सुमेरु पर्वत ही भगवान् की उपासना करने के लिए आया हो। वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित था इसलिए

चक्रवर्ती के समान जान पड़ता था, ध्वजासहित था इसलिए ऐरावत हाथी के समान मालूम होता था और सुवर्ण का बना हुआ था इसलिए महामेरु के समान सुशोभित हो रहा था। पुष्पों के समूह को सूधने के लिए जो भ्रमर उस पीठपर बैठे हुए थे उन पर सुवर्ण की छाया पड़ रही थी जिससे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सुवर्ण के ही बने हों। जिसने समस्त लोकों को नीचा कर दिया है, जिसकी कान्ति अतिशय दैदीप्यमान है और जो देव तथा धरणेन्द्रों के द्वारा पूजित है ऐसा वह पीठ जिनेन्द्र भगवान् के शरीर के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् के शरीर ने भी समस्त लोकों को नीचा कर दिया था, उसकी कान्ति भी अतिशय दैदीप्यमान है और वह भी देव तथा धरणेन्द्रों के द्वारा पूजित था। अथवा वह पीठ सुमेरु पर्वत की शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ज्योतिर्गण अर्थात् ज्योतिषी देवों के समूह से धिरा हुआ है उसी प्रकार वह पीठ भी ज्योतिर्गण अर्थात् किरणों के समूह से धिरा हुआ था, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सर्वोत्तर अर्थात् सब क्षेत्रों से उत्तर दिशा में हैं उसी प्रकार वह पीठ भी सर्वोत्तर अर्थात् सब से उत्कृष्ट था, और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत (जन्माभिषेक के समय) जगदगुरु जिनेन्द्र भगवान् को धारण करता है उसी प्रकार वह पीठ भी (समवसरण भूमि में) जिनेन्द्र भगवान् को धारण कर रहा था। इस प्रकार तीन कट्टनीदार वह पीठ था, उसके ऊपर विराजमान हुए जिनेन्द्र भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि तीन लोक के शिखर पर विराजमान हुए सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं। आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणियों से बने हुए तीसरे कोट के भीतर का विस्तार एक योजन प्रमाण था, इसी प्रकार तीनों वन (लतावन, अशोक आदि के वन और कल्पवृक्ष वन) तथा ध्वजाओं से रुकी हुई भूमि का विस्तार भी एक एक योजन प्रमाण था और परिखा भी धूलीसाल से एक योजन चल कर थी, यह सब विस्तार जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है। आकाशस्फटिकमणियों से बने हुए कोट से कल्पवृक्षों के वन की वेदिका आधा योजन दूर थी और उसी साल से प्रथम पीठ पाव योजन दूरी पर था। पहले पीठ के मस्तक का विस्तार आधे कोश का था, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पीठ की मेखलाएँ भी प्रत्येक साढ़ेसात सौ

धनुष चौड़ी थीं। महावीथियों अर्थात् गोपुर-द्वारों के सामने के बड़े-बड़े रास्ते एक-एक कोश चौड़े थे और सोलह दीवालों अपनी ऊँचाई से आठवें भाग चौड़ी थीं उन दीवालों की ऊँचाई का वर्णन पहले कर चुके हैं-तीर्थकरों के शरीर की ऊँचाई से बारह गुनी। प्रथम पीठरूप जगती आठ धनुष ऊँची जाननी चाहिए और विद्वान् लोग द्वितीय पीठ को उससे आधा अर्थात् चार धनुष ऊँचा जानते हैं। इसी प्रकार तीसरा पीठ भी चार धनुष ऊँचा था, तथा सिंहासन और धर्मचक्र की ऊँचाई एक धनुष मानी गयी है। इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की समवसरण सभा बनी हुई थी।

(26) समवरणगत बारह कोठों मे बैठने वाले जीवों का विभाग-

चेड़ुंति बारस-गणा, कोट्टुण्डंतरेसु पुव्वादी।

पुह पुह पदाहिणेण गणाण साहेमि विणासा ॥(865)

इन कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिण-क्रम पृथक-पृथक् बारहगण बैठते हैं। इन गणों के विन्यास का कथन आगे करता हूँ।

अक्खीण-महाणसिया, सप्पी-खीरामियासव-रसाओ।

गणहर-देव-प्पमुहा, कोट्टे पदमम्मि चेड़ुंति ॥(866)

इन बारह कोठों में से प्रथम कोठे में अक्खीणमहानसिक ऋद्धि तथा सर्पिणसव, क्षीरासव एवं अमृतासवरूप रस-ऋद्धियों के धारक देवप्रमुख बैठा करते हैं।

बिदियम्मि फलिह-भित्ती-अंतरिदे कप्पवासि-देवीओ।

तदियम्मि अज्जियाओ, सावइयाओ विणीदाओ ॥(867)

स्फटिकमणिमयी दीवालों से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ एवं तीसरे कोठे में अतिशय विनम्र आर्थिकाएँ और श्राविकाएँ बैठती हैं।

तुरिये जोइसियाणं, देवीओ परम-भक्ति-मंतीओ।

पंचमए विणिदाओ, विंतर-देवाण देवीओ ॥(868)

चतुर्थ कोठे में परम-भक्ति से संयुक्त ज्योतिषी देवों की देवियाँ और

पाँचवे कोठे में व्यन्तर देवों की विनीत देवियाँ बैठा करती हैं।

छट्टमि जिणवरच्चण-कुसलाओ भवणवासि-देवीओ।

सत्तमए जिण-भत्ता, दस-भेदा भावणा देवा ॥(869)

छठे कोठे में जिनेन्द्र देव के अर्चन में कुशल भवनवासिनी देवियाँ और सातवें कोठे में दस प्रकार के जिन भक्त भवनवासी देव बैठते हैं।

अड्डमए अड्डविहा, वेंतरदेवा य किण्णर-प्पहुदी।
णवमे ससि-रवि-पहुदी, जोइसिया जिण-णिविड़ु-मणा ॥(870)

आठवें कोठे में किन्नरादिक आठ प्रकार के व्यन्तरदेव और नवम कोठे में जिनेन्द्र-देव में मन को निविष्ट करने वाले चन्द्र-सूर्यादिक ज्योतिषी देव बैठते हैं।

सोहम्मादी अच्छुद-कप्पंता देव-रायणो दसमे।
एककरसे चक्कहरा, मंडलिया पत्थिवा मणुवा ॥(871)

दसवें कोठे में सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त के देव एवं उनके इन्द्र तथा ग्यारहवें कोठे में चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा एवं अन्य मनुष्य बैठते हैं।

बारसमम्मि य तिरिया, करि-केसरि-वग्ध-हरिण-पहुदीओ।
मोत्तूण पुव्व-वेरं, सत्तू वि सुमित्त-भाव-जुदा ॥(872)

बारहवें कोठे में हाथी, सिंह, व्याघ और हरिणादिक तिर्यच्च जीव बैठते हैं। इनमें पूर्व वैरको छोड़कर शत्रु भी उत्तम मित्र भाव से संयुक्त होते हैं। हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन ने 12 सभाओं का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

जिस प्रकार चन्द्रमा के समीप गुरु अर्थात् बृहस्पति से अधिष्ठित शुक्रादि ग्रह सुशोभित होते हैं उसी प्रकार श्री वर्धमान जिनेन्द्र के समीप प्रथम कोण में गुरु अर्थात् अपने-अपने दीक्षागुरुओं से अधिष्ठित, निर्दोष दिग्म्बर मुद्रा को धारण करने वाले अनेक मुनि सुशोभित हो रहे थे। तदन्तर द्वितीय कोठा

में कल्पलताओं के समान भुजाओं को धारण करने वाली कल्पवासिनी देवियाँ स्थित थीं और वे जिनेन्द्र के समीप इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं जिस प्रकार कि सुमेरु के समीप भोगभूमियाँ सुशोभित होती हैं। तदन्तर तृतीय कोठा में नाना प्रकार के अंलकारों से अलंकृत स्त्रियों के साथ आर्यिकाओं की पंक्ति इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं जिस प्रकार कि चमकती हुई बिजलियों से आलिंगित शरदकृतु की मेघपंक्ति सुशोभित होती है। इनके बाद चतुर्थ कोठा में उज्ज्वल शरीर की धारक ज्योतिष्क देवों की स्त्रियाँ सुशोभित हो रही थीं। वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो समवशरणरूपी सागर में प्रतिबिम्बित तारा ही हों। उनके बाद पंचम कोठा में हस्तरूपी कुण्डलोंको धारण करने वाली व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ साक्षात् वन की लक्ष्मी के समान सुशोभित हो रही थीं। तत्पश्चात् षष्ठ कोठा में नागलोक से आयी हुई नागवेल के समान उज्ज्वल फणाओं को धारण करने वाली नागकुमार आदि भवनवासी देवों की देवियाँ सुशोभित हो रही थीं। तदन्तर सप्तम कोठा में पाताललोक में रहने वाले एवं उज्ज्वल वेष के धारक अग्नि कुमार आदि दस प्रकार के भवनवासी देव सुशोभित हो रहे थे। तत्पश्चात् अष्टम कोठा में किन्नर, गन्धर्व, यक्ष तथा किम्पुरुष आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देव सुशोभित हो रहे थे। उसके बाद नवम् कोठा में प्रकीर्णक, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह ये पाँच प्रकार के विशाल शरीर के धारक ज्योतिषी देव सुशोभित हो रहे थे। तदन्तर दशम् कोठों में मुकुट, कुण्डल, केयूर, हार और कटिसूत्र को धारण करने वाले कल्पवृक्ष के समान कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे। तत्पश्चात् एकादश कोठा में पुत्र स्त्री आदि से सहित अनेक विद्याधरों से युक्त नाना प्रकार की भाषा, वेष और कान्ति को धारण करने वाले मनुष्य बैठे थे और उनके बाद द्वादश कोठा में जिनेन्द्र भगवान् के प्रभाव से जिन्हें विश्वास उत्पन्न हुआ था तथा जो अत्यन्त शान्ति चित्त के धारक थे ऐसे सर्प, नेवला, गजेन्द्र, सिंह, घोड़ा और भैंस आदि नाना प्रकार के तिर्यच्च बैठे थे। इस प्रकार जब बारह कोठों में बारह गण, जिनेन्द्र भगवान् के चारों और प्रदक्षिणा रूप से परिक्रमा, स्तुति और नमस्कार कर विद्यमान थे।

(हरिवंश पुराण पृष्ठ न. 18)

27. पाँचवीं वेदी:-

अहं पंचम-वेदीओ, णिम्मल-फलिहोवलेहि रङ्गदाओ।
णिय-णिय-चउत्थ-साला-सरिच्छ-उच्छेह-पहुदीओ ॥(873)

इसके अनन्तर निर्मल स्फटिक पाषाणों से विरचित और अपने अपने चतुर्थ कोट के सदृश विस्तारादि सहित पाँचवीं वेदियाँ होती हैं।

28. प्रथम पीठ का प्रमाण:-

तत्तो पढमे पीढा, वेरुलिय-मणीहि णिम्मिदा ताणं ।
णिय-माणत्थंभादिम-पीदुच्छेहोव्व उच्छेहा ॥(874)

इसके आगे वैद्युर्य-मणियों से निर्मित प्रथम पीठ है। इन पीठों की ऊँचाई अपने-अपने मानस्तम्भादि की ऊँचाई सदृश है।

पत्तेकं कोड्डाणं, पणधीसुं तह य सयल-वीहीणं ।
हौंति हु सोलस सोलस, सोवाणा पढम पीडेसुं ॥(875)

प्रथम पीठों के ऊपर (उपर्युक्त) बाहर कोठों में से प्रत्येक कोठे के प्रवेशद्वार में एवं समस्त (चारों) वीथियों के सम्मुख सोलह-सोलह सोपान होते हैं।

रुंदेण पढम-पीढा, कोसा चउवीस बारसेहि हिदा ।
उसह-जिणिंदे कमसो, एककेक्कूणाणि णेमि-जिणं ॥(876)

ऋषभ जिनेन्द्र के समवसरण में प्रथमपीठ का विस्तार बारह से भाजित चौबिस कोस था। फिर इसके आगे नेमि जिनेन्द्र पर्यन्त क्रमशः एक-एक अंक कम होता गया है।

पण-परिमाण कोसा, चउवीस हिदा य पासणाहम्मि ।
एकको च्चिय छक्क-हिदे देवे सिरिवड्ढमाणम्मि ॥(877)

पाश्वर्व-जिनेन्द्र के समवसरण में प्रथम पीठ का विस्तार चौबीस से भाजित पाँच कोस और वर्धमान जिनेन्द्र के समवसरण में छह से भाजित एक कोस प्रमाण ही था।

पीठों की परिधियों का प्रमाण:-

पीढाणं परिहीओ, णिय-णिय-वित्थार-तिगुणिय-पमाणा ।
वय-रयण-णिम्मियाओ, अणुवम-रमणिज्ज-सोहाओ ॥(878)

पीठों की परिधियों का प्रमाण अपने-अपने विस्तार से तिगुना होता है। ये पीठिकाएँ उत्तम रत्नों से निर्मित एवं अनुपम रमणीय शोभा से सम्पन्न होती हैं।

धर्मचक्र । -

वलयोवम-पीडेसु, विविहच्चण-दव्व-मंगल-जुदेसु ।
सिर-धरिद-धम्म-चक्का, चेडुंते चउ-दिसासु जक्खिंदा ॥(879)

चूड़ी सदृश गोल तथा नाना प्रकार के पूजा-द्रव्य एवं मंगल-द्रव्यों सहित इन पीढ़ों पर चारों दिशाओं में धर्मचक्र को सिर पर रखे हुए यक्षेन्द्र स्थित रहते हैं। (ति.प., गृ. 266)

मेखला का विस्तार:-

चावाणि छरसहरसा, अट्टु-हिदा पीढ-मेहला रुंदं ।
उसह-जिणे पण्णाहिय-दो-सय-ऊणाणि णेमि-जिणं ॥(880)

पणवीसाहिय-छरसय, अट्टु-विहत्तं च पास-णाहम्मि ।
एकक-सयं पणवीसबहियं वीरम्मि दोहि हिदं ॥(881)

ऋषभजिनेन्द्र के समवसरण में पीठ की मेखला का विस्तार आठ से भाजित छह हजार धनुष प्रमाण था पुनः इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः उत्तरोत्तर दो सौ पचास-दो सौ पचास अंक कम होते गये हैं तथा पाश्वर्वनाथ के यह विस्तार आठ से भाजित छह सौ पच्चीस धनुष एवं वीर प्रभु के दो से भाजित एकसौ पच्चीस धनुष प्रमाण था।

गणधरादिकों द्वारा की हुई भक्ति

आरुहिदूणं तेसुं, गणहर-देवादि-बारस-गणा ते ।
कादूण ति-प्पदाहिणमच्चंति मुहं मुहं णाहं ॥(882)

थोदूण थुदि-साइहिं, असंख्युणसेडि-कम्म-णिज्जरणं ।
कादूण पसण्ण-मणा, णिय-णिय-कोडे सु पविसंति ॥(883)

वे गणधरदेवादिक बारह-गण उन पीठोंपर चढ़कर और तीन प्रदक्षिणा देकर बार-बार जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं, तथा सैकड़ों स्तुतियों द्वारा कीर्तन कर कर्मों की असंख्यात-गुणश्रेणीरूप निर्जरा करके प्रसन्न-चित्त होते हुए अपने-अपने कोठों में प्रवेश करते हैं अर्थात् अपने-अपने कोठों में बैठ जाते हैं। (तिप., पृ.267)

देवों के द्वारा भक्ति-

समवसरण सभा के भीतर देवों के साथ इन्द्र ने प्रवेश किया इस प्रकार अतिशय उत्कृष्ट शोभा को धारण करनेवाली उस समवसरण भूमिको देखकर जिसके नेत्र विस्मय को प्राप्त हुए हैं ऐसा वह सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र मोहनीय कर्म को नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के दर्शनों की इच्छा से बड़ी भारी विभूतिपूर्वक उत्तम उत्तम देवों के साथ-साथ भीतर प्रविष्ट हुआ।

प्रथम तीर्थकर भगवान् वृषभदेव के उस सौधर्मेन्द्र ने दर्शन किये। दर्शन कर दूर से ही जिन्होंने अपने मस्तक नम्रीभूत कर लिये हैं ऐसे इन्द्रों ने जमीन पर घुटने टेक कर उन्हें प्रणाम किया, प्रणाम करते समय वे इन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने मुकुटों के अग्रभाग में लगी हुई मालाओं के समूह से जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों की पूजा ही कर रहे हैं। उन अरहन्त भगवान् को प्रणाम करते समय जिनके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये और मुख सफेद मन्द हास्य से युक्त हो रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिनमें सफेद और नीलकमल खिले हुए हैं ऐसे अपने सरोवरों के साथ-साथ कुलाचलपर्वत सुमेरु पर्वत की ही सेवा कर रहे हैं। उसी समय अप्सराओं तथा समस्त देवियों से सहित इन्द्राणी ने भी भगवान् के चरणों को प्रणाम किया था, प्रणाम करते समय वह इन्द्राणी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने प्रफुल्लित हुए मुखरूपी कमलों से, नेत्ररूपी नील कमलों से और विशुद्ध भावरूपी बहुत भारी पुष्पों से भगवान् की पूजा ही कर रही हो। जिनेन्द्र भगवान् के

दोनों ही चरण कमल अपने नखोंकी किरणों के समूह से देवों के मस्तक पर आकर उन्हें स्पर्श कर रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कभी म्लान न होनेवाली माला के बहाने से अनुग्रह करने के लिए उन देवों के मस्तकों पर शेषाक्षत ही अर्पण कर रहे हैं। वे इन्द्र लोग अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम करते समय जो जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की प्रभा से पवित्र किये गये हैं तथा उन्हीं के नखों की किरणसमूहरूपी जल से जिन्हें अभिषेक प्राप्त हुआ है ऐसे अपने उन्नत और अत्यन्त उत्तम मस्तकों को धारण कर रहे थे। भावार्थ-प्रणाम करते समय इन्द्रों के मस्तक पर जो भगवान् के चरणों की प्रभा पड़ रही थी उससे वे उन्हें अतिशय पवित्र मानते थे और जो नखों की कान्ति पड़ रही थी उससे उन्हें ऐसा समझते थे मानो उनका जल से अभिषेक ही किया गया हो। इस प्रकार वे अपने उत्तमांग अर्थात् मस्तक को वास्तव में उत्तमांग अर्थात् उत्तम अंग मानकर ही धारण कर रहे थे। इन्द्राणी भी जिस समय अप्सराओं के साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उस समय दैदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मी के उत्तम हास्य के समान आचरण करने वाला और स्वभाव से ही सुन्दर भगवान् के नखों की किरणों का समूह उसके स्तनों के समीप भाग में पड़ रहा था और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सुन्दर वस्त्र ही धारण कर रही हो। अपनी-अपनी देवियों से सहित तथा दैदीप्यमान आभूषणों से सुशोभित थे, वे इन्द्र प्रणाम करते ऐसे जान पड़ते थे मानो कल्पलताओं के साथ बड़े-बड़े कल्पवृक्ष ही भगवान् की सेवा कर रहे हैं।

अथानन्तर इन्द्रों ने बड़े सन्तोष के साथ खड़े होकर श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथों से गन्ध पुष्पमाला, धूप, दीप, सुन्दर अक्षत और उत्कृष्ट अमृत के पिण्डों-द्वारा भगवान् के चरणकमलों की पूजा की। रंगावली से व्याप्त हुई भगवान् के आगे की भूमिपर इन्द्रों के द्वारा लायी वह पूजा की सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उसके छल से संसार की समस्त द्रव्यरूपी सम्पदाएँ भगवान् के चरणों की उपासना की इच्छा से ही वहाँ आयी हों। इन्द्राणी ने भगवान् के आगे कोमल चिकने और सूक्ष्म अनेक प्रकार के रत्नों के चूर्ण से मण्डल बनाया था, वह मण्डल ऊपर की ओर उठती

हुई किरणों के अंकुरों से चित्र-विचित्र हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुष के कोमल-चूर्ण से ही बना हो। तदनन्तर इन्द्राणी ने भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों के समीप में दैदीप्यमान रत्नों के भृंगार की नाल से निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी। वह जलधारा इन्द्राणी के समान ही पवित्र थी और उसकी मनोवृत्ति के समान प्रसन्न तथा स्वच्छ थी। उसी समय इन्द्राणी ने जिनेन्द्र भगवान् के चरणों का स्मरण करते हुए भक्तिपूर्वक जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थी तथा जो फिरते हुए भ्रमरों की पंकियों-द्वारा किये हुए शब्दों से बहुत ही मनोहर जान पड़ती थी ऐसी स्वर्गलोक में उत्पन्न हुई सुगन्ध से भगवान् के पादपीठ (सिंहासन) की पूजा की थी। इसी प्रकार अपने वित्तकी प्रसन्नता के समान स्वच्छ कान्ति को धारण करने वाले मोतियों के समूहों से भगवान् की अक्षतों से होने वाली पूजा की तथा कभी नहीं मुरझाने वाली कल्पवृक्ष के फूलों की सैकड़ों मालाओं से बड़े हर्ष के साथ भगवान् के चरणों की पूजा की। तदनन्तर भक्ति के वशीभूत हुई इन्द्राणी ने जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की कान्ति के प्रसार से जिनका निजी प्रकाश मन्द पड़ गया है ऐसे रत्नमय दीपकों से जिनेन्द्र रूपी सूर्य की पूजा की थी रो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुष योग्य अथवा अयोग्य कुछ भी नहीं समझते। भावार्थ-यह कार्य करना योग्य है अथवा अयोग्य, इस बात का विचार भक्ति के सामने नहीं रहता। यही कारण था कि इन्द्राणी जिनेन्द्ररूपी सूर्य की पूजा दीपकों-द्वारा की थी। तदनन्तर इन्द्राणी ने धूप तथा जलते हुए दीपकों से दैदीप्यमान और बड़े भारी थाल में रखा हुआ सुशोभित अमृत का पिण्ड भगवान् के लिए समर्पित किया, वह थाल में रखा हुआ धूप तथा दीपकों से सुशोभित अमृत का पिण्ड ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओं से सहित और राहु से आलिंगित चन्द्रमा ही जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों के समीप आया हो। तदनन्तर जो चारों और फैली हुई सुगन्धि से बहुत ही मनोहर थे और जो शब्द करते हुए भ्रमरों के समूहों से सेवनीय होने के कारण ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान् का यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलों के द्वारा इन्द्राणी ने बड़े भारी हर्ष से भगवान् की पूजा की थी। इसी प्रकार देवों ने भी भक्तिपूर्वक अर्हन्त भगवान् की पूजा की थी परन्तु कृतकृत्य

भगवान् को इन सबसे क्या प्रयोजन था ? वे यद्यपि वीतराग थे न किसी से सन्तुष्ट होते थे और न किसी से द्वेष ही करते थे तथापि अपने भक्तों को इष्टफलों से युक्त कर ही देते थे यह एक आश्चर्य की बात थी।

अथानन्तर— जिन्हें समस्त विद्याओं के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने की इच्छा हुई ऐसे वे बड़े-बड़े इन्द्र प्रसन्नवित्त होकर अपने भक्तिरूपी हाथों से चित्रविचित्र वर्णोवाली इस वचनरूपी पुष्पों की माला को अर्पित करने लगे। भगवान् की स्तुति करने लगे।

(आदिपुराणम् पर्व 23 पृष्ठ 552)

(29) दूसरे पीठ का वर्णन

पद्मोवरिम्मि विदिया, पीढ़ा चेद्वृति ताण उच्छेहो।

चउ-दंडा आदि-जणे, छब्भागेणूण जाव णेमिजिणं॥(889)

(ति.प.)

प्रथम पीठों के ऊपर दूसरे पीठ होते हैं। ऋषभदेव के समवसरण में उनके (दूसरे) पीठ की ऊँचाई चार धनुष थी। फिर इसके आगे उत्तरोत्तर क्रमशः नेमिजिनेन्द्र पर्यन्त एक बटा छह (1/6) भाग कम होता गया है। यथा (1) 24/6 (2) 23/6 (3) 22/6 (4) 21/6 (5) 20/6 (6) 19/6 (7) 18/6 (8) 17/6 (9) 16/6 (10) 15/6 (11) 14/6 (12) 13/6 (13) 12/6 (14) 11/6 (15) 10/6 (16) 9/6 (17) 8/6 (18) 7/6 (19) 6/6 (20) 5/6 (21) 4/6 (22) 3/6

पास-जिणे पण-दंडा, बारस-भजिदा य वीर-णाहम्मि।

एकको च्चिय तिय-भजिदा णाणावर-रयण-णिलय-इला॥(885)

पाश्वनाथ तीर्थकर के समवसरण में दूसरी पीठ की ऊँचाई बारह से भाजित पाँच धनुष और वीरनाथ के तीन से भाजित एक धनुष मात्र थी। ये दूसरी पीठिकाएँ नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से खचित भूमि-युक्त हैं। यथा 5/12, (24) 1/3

दूसरी पीठों की मेखलाओं का विस्तार-

चावाणि छर्सहर्सा, अट्ठ-हिदा ताण मेहला-रुंदा।
उसह-जिणे पण्णा-हिय-दो-सय-ऊणा य णेमि-परियंतं ॥(886)
पणवीसाहिय-छर्सय, अट्ठ-विहतं च पास-सामिस्स।
एकक-सयं पणवीसभहियं वीरम्मि दोहि हिदं ॥(887)

ऋषभनाथ के समवसरण में उनकी (दूसरी पीठों की) मेखलाओं का विस्तार आठ से भाजित छह हजार धनुष था। इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः दो सौ पचास भाग कम होता गया है। पाश्वर्नाथ (के समवसरण में द्वितीय पीठ की मेखलाओं) का विस्तार आठ से भाजित छह सौ पच्चीस धनुष और वीरनाथ भगवान् के यह विस्तार दो से भाजित एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण था। यथा (1) 6000/8 (2) 5750/8 (3) 5500/8 (4) 5250/8 (5) 5000/8 (6) 4750/8 (7) 4500/8 (8) 4250/8 (9) 4000/8 (10) 3750/8 (11) 3500/8 (12) 3250/8 (13) 3000/8 (14) 2750/8 (15) 2500/8 (16) 2250/8 (17) 2000/8 (18) 1750/8 (19) 1500/8 (20) 1250/8 (21) 1000/8 (22) 750/8 (23) 625/8 (24) 125/2

सोपान एवं ध्वजाओं का वर्णन-

ताणं कण्यमयाणं, पीढाणं पंच-वण्ण-रयणमया।
समवट्टा सोवाणा, चेडुंते चउ-दिसासु अड्डुं ॥(888)

उन स्वर्णमय पीठों के ऊपर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में पाँच वर्ण के रत्नों से निर्मित समान आकार वाले आठ-आठ सोपान होते हैं। यथा 8/8।

केसरि-वसह-सरोरुह-चक्कंबर-दाम-गरुड-हत्थि-धया।
मणि-थंभ-लंबमाणा, राजंते बिदिय-पीढेसुं ॥(889)

द्वितीय पीठों के ऊपर मणिमय स्तम्भों पर लटकती हुई सिंह, बैल,

कमल, चक्र, वस्त्र, माला, गरुड और हाथी इन चिह्नों से युक्त ध्वजाएँ शोभायमान होती हैं।

धूव-घडा णव-णिहिणो, अच्चण-दव्वाणि मंगलाणिं पि।
चेडुंति बिदिय-पीढे, को सककइ ताण वण्णेदुं ॥(890)

द्वितीय पीठपर जो धूपघट, नव निधियाँ, पूजन द्रव्य और मंगलद्रव्य स्थित रहते हैं, उनका वर्णन कर सकने में कौन समर्थ है ?

द्वितीय पीठ का विस्तार

वीसाहिय-सय-कोसा, उसह-जिणे विदिय-पीढ-वित्थारा।
पंचूणा छण्णउदी, भजिदा कमसो य णेमि-पज्जंतं ॥(891)

पास-जिणे पणुवीसं, अट्टूणं दोसएहि अवहरिदा।
पंच च्चिय वीरजिणे, पविहत्ता अडुतालेहिं ॥(892)

ऋषभनाथ जिनेन्द्र के समवसरण में द्वितीय पीठ का विस्तार छ्यानवै से भाजित एक सौ बीस कोस प्रमाण था। पश्चात् इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः पाँच-पाँच भाग कम होते गये हैं। पाश्वर्न जिनेन्द्र के यह विस्तार आठ कम दोसौ से भाजित कोस तथा वीर जिनेन्द्र के अड़तालीस से भाजित पाँच कोस प्रमाण था। यथा (1) 120/96 (2) 115/96 (3) 110/96 (4) 105/96 (5) 100/96 (6) 95/96 (7) 90/96 (8) 85/96 (9) 80/96 (10) 75/96 (11) 70/96 (12) 65/96 (13) 60/96 (14) 55/96 (15) 50/96 (16) 45/96 (17) 40/96 (18) 35/96 (19) 30/96 (20) 25/96 (21) 20/96 (22) 15/96 (23) 25/192 (24) 5/48।

(30) तीसरी पीठिकाओं की ऊँचाई एवं विस्तार-

ताणोवरि तदियाइं, पीढाइं विविह-रयण-रइदाइं।
णिय-णिय-दुइज्ज-पीढुच्छेह-समा ताण उच्छेहा ॥(893)

द्वितीय पीठों के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से खचित तीसरी

पीठिकाएँ होती हैं। इनकी ऊँचाई अपनी-अपनी दूसरी पीठिकाओं की ऊँचाई सदृश होती है। यथा (1) 24/6 (2) 23/6 (3) 22/6 (4) 21/6 (5) 20/6 (6) 19/6 (7) 18/6 (8) 17/6 (9) 16/6 (10) 15/6 (11) 14/6 (12) 13/6 (13) 12/6 (14) 11/6 (15) 10/6 (16) 9/6 (17) 8/6 (18) 7/6 (19) 6/6 (20) 5/6 (21) 4/6 (22) 3/6 (23) 5/12 (24) 1/31

णिय-आदिम-पीढाणं, वित्थार चउत्थ-भाग-सारिच्छा।
एदाणं वित्थारा, तिउण-कदे तथ समहिए परिही॥(894)

इनका विस्तार अपनी प्रथम पीठिकाओं के विस्तार के चतुर्थ भाग प्रमाण होता और तिगुणे विस्तार से कुछ अधिक इनकी परिधि होती है। यथा (1) 24/48 (2) 23/48 (3) 22/48 (4) 21/48 (5) 20/48 (6) 19/48 (7) 18/48 (8) 17/48 (9) 16/48 (10) 15/48 (11) 14/48 (12) 13/48 (13) 12/48 (14) 11/48 (15) 10/48 (16) 9/48 (17) 8/48 (18) 7/48 (19) 6/48 (20) 5/48 (21) 4/48 (22) 3/48 (23) 5/96 (24) 4/96।

ताणं दिन्यर-मंडल-समवट्टाणं हवंति अद्वृं।
सोवाणा रयणमया, चउसु दिसासु सुहृप्पासा॥(895)

सूर्य मण्डल सदृश गोल उन पीठों के चारों ओर रत्नमय एवं सुखकर स्पर्शवाली आठ-आठ सीढ़ियाँ होती हैं।

(31) गन्धकुटी

एककेकका गंधउडी होदि तदो तदिय-पीढ उवरिमि।
चामर-किकिणि-वंदनमाला, हारादि-रमणिज्जा॥(896)

ति.प.

गोसीस-मलय-चंदण-कालागुरु-पहुदि धूव गंधङ्गा।
पजलंत-रयण-दीवा, णच्चंत-विचित्त-धय-पंती॥(897)

इसके आगे इन तीसरी पीठिकाओं के ऊपर एक-एक गन्धकुटी होती है। यह गन्धकुटी चामर, किंकिणि वन्दनमाला एवं हारादिक से रमणीय गोशीर, मलयचन्दन और कालागरु इत्यादिक धूपों की गन्ध से व्याप्त, प्रज्वलित रत्नदीपकों से युक्त तथा नाचती हुई विचित्र ध्वजाओं की पंक्तियों से संयुक्त होती है।

तीए रुंदायामा, छर्सय-दंडाणि उसहणाहम्मि।
पण-कदि-परिहीणाणि, कमसोसिरि-णेमि-परियंतं॥(898)

पणुवीसब्भहिय-सयं-दोहि विहत्तं च पासणाहम्मि।
विगुणिय-पणुवीसाइं, तित्थयरे वड्ढमाणम्मि॥(899)

उस गन्धकुटी की चौड़ाई और लम्बाई ऋषभनाथ के समवसरण में छह सौ धनुष प्रमाण थी। पश्चात् नेमिनाथ पर्यन्त क्रमशः उत्तरोत्तर पाँच का वर्ग अथवा 25-25 धनुष कम होती गई है। पार्श्वनाथकी गन्धकुटी दो से विभक्त एक सौ पच्चीस धनुष तथा वर्धमान स्वामी की दुगुणित पच्चीस (50) धनुष प्रमाण थी।

यथा (1) आदिनाथ की 600 धनुष (2) 575 (3) 550 (4) 525 (5) 500 (6) 475 (7) 450 (8) 425 (9) 400 (10) 375 (11) 350 (12) 325 (13) 300 (14) 275 (15) 250 (16) 225 (17) 200 (18) 175 (19) 150 (20) 125 (21) 100 (22) 75 (23) 125/2 (24) 50।

उदओ गंधउडीए दंडाणं णव-सयाणि उसह-जिणे।
कमसो णेमि-जिणंतं, चउवीस-विहत्त-पभव-हीणाणि॥(900)

पणुहत्तरि-जुद-ति सया, पास-जिणिंदम्मि चउविहत्ता य।
पणुवीसोणं च सयं, जिणपवरे वीर-णाहम्मि॥(901)

ऋषभ जिनेन्द्र के समवसरण में गन्धकुटी की ऊँचाई नौ सौ धनुष प्रमाण थी। पश्चात् क्रमशः नेमिनाथ पर्यन्त चौबीस से विभक्त मुख (900/24 = 37 1/2) प्रमाण हीन होती गई है पार्श्व जिनेन्द्र के चार से विभक्त तीन

सौ पचत्तर धनुष और वीर जिनेन्द्र के पच्चीस कम धनुष प्रमाण थी— यथा
 (1) आदिनाथ की 900 धनुष

(2) 1725/2 (3) 1650/2 (4) 1575/2 (5) 1500/2 (6)
 1425/2 (7) 1350/2 (8) 1275/2 (9) 1200/2 (10) 1125/2
 (11) 1050/2 (12) 975/2 (13) 900/2 (14) 825/2 (15)
 750/2 (16) 675/2 (17) 600/2 (18) 525/2 (19) 450/2
 (20) 375/2 (21) 300/2 (22) 225/2 (23) 375/4 (24) 75।

जो दैदीप्यमान मणियों की कान्ति के समूह से अनेक इन्द्रधनुषों की रचना कर रहा है, जो स्वयं इन्द्र के हाथों से फैलाये हुए पुष्पों के समूह से सुशोभित हो रहा था और उससे जो ऐसा जान पड़ता है मानो मेघों के नष्ट हो जाने से जिसमें तारागण चमक रहे हैं ऐसे शरदकृतु के आकाश की ओर हँस ही रहा हो; जिस पर ढुरते हुए चमरों के समूह से प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उनसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बड़े भारी तलभाग की सेवा कर रहे हों; जो अपनी कान्ति से सूर्यमण्डल के साथ स्पर्द्ध कर रहा था; बड़ी बड़ी ऋद्धियों से युक्त था, और कहीं-कहीं पर आकाश-गंगा के फेन के समान स्फटिकमणियों से जड़ा हुआ था; जो कहीं-कहीं पर पद्मराग की फैलती हुई किरणों से व्याप हो रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान् के चरणतल की लाल-लाल कान्ति से ही अनुरक्त हो रहा हो; जो अतिशय पवित्र था, चिकना था, कोमल स्पर्श से सहित था जिनेन्द्र भगवान् के चरणों के स्पर्श से पवित्र था और जिसके समीप में अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं ऐसे उस तीन कट्ठनीदार तीसरे पीठ के विस्तृत मस्तक अर्थात् अग्रभाग पर कुबेर ने गन्धकुटी बनायी। वह गन्धकुटी बहुत ही विस्तृत थी, ऊँचे कोट से शोभायमान थी और अपनी शोभा से स्वर्ग के विमानों का भी उल्लंघन कर रही थी। तीन कट्ठनियों से चिह्नित पीठ पर वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन इन तीन वनों के ऊपर सुमेरु पर्वत की चूलिका ही सुशोभित हो रही हो अथवा जिस प्रकार स्वर्गलोक के ऊपर स्थित हुई सर्वार्थसिद्धि सुशोभित होती है उसी प्रकार

उस पीठ के ऊपर स्थित हुई वह अतिशय दैदीप्यमान गन्धकुटी सुशोभित हो रही थी। अनेक प्रकार के रत्नों की कान्ति को फैलाने वाले उस गन्धकुटी के शिखरों से व्याप हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो अनेक वित्रों से सहित ही हो रहा हो अथवा इन्द्रधनुषों से युक्त ही हो रहा हो। जिनपर करोड़ों विजयपताकाएँ बँधी हुई हैं ऐसे ऊँचे शिखरों से वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानों अपने हाथों को फैलाकर देव और विद्याधरों को ही बुला रही हो। तीनों पाठों सहित वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशरूपी सरोवर के मध्यभाग में जल में प्रतिबिम्बित हुई तीनों लोकों की लक्ष्मी की प्रतिमा ही हो। चारों और लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियों की झालर से वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों बड़े-बड़े समुद्रों ने उसे मोतियों के सैकड़ों उपहार ही समर्पित किये हों। कहीं-कहीं पर वह गन्धकुटी सुवर्ण की बनी हुई मोटी और लम्बी जाली से ऐसी सुशोभित हो रही थी। जो स्वर्ग की लक्ष्मी के द्वारा भेजे हुए उपहारों के समान जान पड़ती थी मानों कल्पवृक्षों से उत्पन्न होने वाले लटकते हुये दैदीप्यमान अंकुरों से ही सुशोभित हो रही हो। ऐसी चारों और लटकती हुई रत्नमय आभरणों की माला से वह गन्धकुटी बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी। वह गन्धकुटी पुष्पमालाओं से खींचकर आये हुए मकरन्द से अन्धे करोड़ों मदोन्मत्त भ्रमरों से शब्दायमान हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति ही करना चाहती हो। स्तुति करते हुए इन्द्र के द्वारा रचे हुए गद्य-पद्यरूप स्तोत्रों के शब्दों से शब्दायमान हुई वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् का स्तवन करने के लिए उद्यत हुई सरस्वती हो। चारों और फैलते हुए रत्नों के प्रकाश से जिसके समस्त अंग ढके हुए हैं ऐसी वह दैदीप्यमान गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की लक्ष्मी से बनी हो। जो अपनी सुगन्धि से बुलाये हुए मदोन्मत्त भ्रमरों के समूह से व्याप हो रहा है और जिसका धुआँ चारों और फैल रहा है ऐसी सुगन्धित धूप से वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानों दिशाओं की लम्बाई ही नापना चाहती हो। सब-दिशाओं में फैलती हुई सुगन्धि से वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो सुगन्धि से बनी हो। सब दिशाओं में फैले हुए

फूलों से ऐसी मालूम होती थी मानों फूलों से ही बनी हो सब दिशाओं में सब फैलते हुए धूप से ऐसी प्रतिभासित हो रही थी। मानो धूप से ही बनी हो अथवा वह गन्धकुटी स्त्री के समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्री का निःश्वास सुगन्धि होता है उसी प्रकार उस गन्धकुटी में जो धूप से सुगन्धित वायु वह रहा था वही उसके सुगन्धित निःश्वास के समान था। स्त्री जिस प्रकार फूलों की माला धारण करती है उसी प्रकार वह गन्धकुटी भी जगह-जगह मालाएँ धारण कर रही थी, और स्त्री के अंग जिस प्रकार नाना आभरणों से दैदीप्यमान होते हैं उसी प्रकार उस गन्धकुटी के अंग (प्रदेश) भी नाना आभरणों से दैदीप्यमान हो रहे थे। भगवान् के शरीर की सुगन्धि से बढ़ी हुई धूप की सुगन्धि से उसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थी इसलिए ही वह गन्धकुटी इस सार्थक नाम को धारण कर रही थी अथवा वह गन्धकुटी ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो सुगन्धि को उत्पन्न करने वाली ही हो, कान्ति की अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी ही हो और शोभाओं को उत्पन्न करने वाली भूमि ही हो।

**धनुषां षट्शतीमेषा विस्तीर्णा यावदायता ।
विष्कम्भात् साधिकोच्छाया मानोन्मानप्रमान्विता ॥(24)**

वह गन्धकुटी छह सौ धनुष चौड़ी थी, उतनी ही लम्बी थी और चौड़ाई में कुछ अधिक ऊँची थी इस प्रकार वह मान और उन्मान के प्रमाण से सहित थी। (पृ. 540)

प्रवेश-निर्गमन प्रमाण

**संखेज्ज-जोयणाणिं, बाल-प्यहुदी पवेस-णिगमणे ।
अंत्तोमुहुत्त-काले, जिण-माहप्पेण गच्छति ॥(940)**
(ति.प.पृ.285)

जिनेन्द्र भगवान् के माहात्म्य से बालक-प्रभृति जीव समवसरण में जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मुहूर्तकाल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं।

स्त्रीबालवृद्धनिवहोपि सुखं सभां तापन्तर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति ।

निर्यातिच प्रभुमहात्म्यतयाश्रितानांनिद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयो न ॥(10-45)
मुनिसुव्रत काव्य

स्त्री, बालक तथा वृद्ध सबका समुदाय उस समवशरण सभा में अन्तर्मुहूर्त में ही सुख पूर्वक आता जाता था। श्री जिनेन्द्र देव के प्रसाद से समवसरण का आश्रय ग्रहण करने वाले जीवों को निद्रा, मरण, प्रसव, शोक तथा रोगादिक नहीं होते थे।

प्रत्येक कार्य अन्तरंग एवं बहिरंग कारणों के समवाय से होता है। अन्तरंग एवं बहिरंग कारणों की तीव्रता से कार्य तीव्रता से होता है, एवं कारणों की मन्दता से कार्य भी मन्दता से होता है। जिस प्रकार जल के अनुकूल स्रोतों में नौका सरलता से तीव्र गति से गमन करती हैं, उसी प्रकार तीर्थकर की भक्ति एवं पुण्य-प्रभाव रूपी अनुकूल स्रोतों में भव्य जीव संख्यात योजन को भी अन्तर्मुहूर्त में पार करके समवसरणमें प्रवेश कर लेता है।

जिस प्रकार तीव्र उष्ण वातावरण में अधिक प्यास लगती है, एवं कम परिश्रम में भी अधिक क्लान्त श्लान्त हो जाता है परन्तु अनुकूल समशीतोष्ण-जलवायु में, शीतल वातावरण में, एवं वातानुकूल गृह में प्यास, थकावट कम अनुभव होती है उसी प्रकार सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित, सर्दी-गर्मी से रहित, खटमल, मच्छर, मक्खी आदि जीवों के उपद्रवों से रहित शान्त, पवित्र आध्यात्मिक समवसरण के वातावरण में जीव जब तक उपदेश रूपी धर्मामृत का पान करता है तब तक उन्हें किसी भी प्रकार शारीरिक, मानसिक पीड़ाएँ नहीं होती हैं।

समवसरण में कौन नहीं जाते ?

**मिच्छाइड्वि-अभवा, तेसु असणी ण होति कइयावि ।
तह य अणजङ्घवसाया, संदिद्धा विविह-विवरीया ॥(941)**
(ति.प.पृ.285)

समवसरण में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय से युक्त, सन्देह से संयुक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं

वाले जीव भी नहीं होते।

मिथ्यादृशः सदसि वत्र न संति मिश्राः।
सासादनाः पुनररसंज्ञिवदप्यभव्याः॥
भव्याः परं विरचितांजलयः सुचित्ताः।
तिष्ठन्ति देववदवाभिमुखं गणोऽपि॥

(10-46)॥(मुनिसुव्रत काव्य)

विश्व धर्म सभा अर्थात् समवसरण में मिथ्यादृष्टि जीव मिश्रगुणस्थान वाले जीव, सासादनगुणस्थान वाले जीव, असंज्ञी जीव, एवं अभव्य जीव नहीं होते हैं। समवसरण में भव्य निर्मित चित्त वाले जीव अजंलि बद्ध होकर भगवान के समक्ष द्वादश सभा में रहते हैं।

तीर्थकरों की विश्व धर्म (समवसरण) एक अलौकिक सभा है, जिसमें समस्त जीवों के लिये धर्मश्रवण का समान अवसर प्राप्त होता है। यहाँ किसी भी जीव के लिये किसी भी प्रकार पक्षपात नहीं होने पर भी जीव स्वयोग्यता से वहां प्रवेश कर सकता है योग्यता रहित होने पर वहां प्रवेश नहीं कर सकते हैं। वह वस्तु स्वभाव है जिस प्रकार जहां प्रकाश है वहां अन्धकार स्वयमेव स्वाभाविक रूप से प्रवेश नहीं कर सकता है, उसी प्रकार जिनके भाव दूषित है ऐसे जीव वहां प्रवेश नहीं कर सकते हैं। भाव निर्मल सहित एक पशु समवसरण में स्थान प्राप्त कर सकता है परन्तु दूषित मनोभाव वाला एक चक्रवर्ती भी समवसरण में प्रवेश नहीं कर सकता है। समोवशरण में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सर्वथा नहीं होते हैं क्योंकि मन रहित होने के कारण वे उन निर्मल परिणामों को प्राप्त नहीं कर पाते हैं जिन परिणामों के होने पर वे समोवशरण में प्रवेश कर सकते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, सासादन गुणस्थान, मिश्र गुणस्थान वाले अभव्य जीव एवं अनध्यवसाय से युक्त जीव, संदेह से सहित जीव भी समोशरण में नहीं होते हैं क्योंकि इन जीवों के भाव निर्मल नहीं होते हैं।

जैनागम के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ मिथ्यादृष्टि आदि जीव

समवसरण में होते हैं। इसका भावार्थ यह है कि वह समवसरण में गन्धकुटी की बारह सभा में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। परन्तु गन्धकुटी के बाह्य भाग में नाट्यशाला, लतावन आदि में मनोरंजन के लिये धूमते रहते हैं और मनोरंजन करते रहते हैं। कुछ निकटभव्य मिथ्यादृष्टि जीव मानस्तम्भ, देवत्रृद्धि दर्शन, जिनमहिमा श्रवण, जिनबिम्ब दर्शन आदि से सम्यक्दृष्टि बनकर गन्धकुटी में प्रवेश कर सकते हैं।

जिन तीर्थकरों की दिव्यध्वनि गन्धकुटी से भी आगे तक फैलती है उनकी दिव्यध्वनि सुनकर भी कुछ निकटभव्य सम्यक्दृष्टि बनकर गन्धकुटी में प्रवेश कर सकते हैं।

गन्धकुटी में रहने वाले जीवों के मन में यदि कदाचित् संदेह आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं तब उस भाव में शीघ्र परिवर्तन होकर सम्यक्त्व को परिणमन है तो वे उस गन्धकुटी में नहीं रह सकते हैं, वे बाहर निष्कासित हो जाते हैं। जिस पकार प्रकाश होने पर अन्धकार का निष्कासन हो जाता है।

समोसरणों में वंदनारत जीवों की संख्या

जिण-वंदणा-पयद्वा-पल्लासंखेज्जभाग-परिमाणा।
चेडुंति विविह जीवा, एककेके समवसरणेषु ॥(938)

ति.प.पृ.285

प्रत्येक समवसरण में पल्य के असंख्यातरे भाग प्रमाण विविध प्रकार के जीव जिनदेव की वंदना में प्रवृत्त होते हुये स्थित रहते हैं। कम क्षेत्रफल में अधिक जीव रहने के कारण का वर्णन तिलोय पण्णति में निम्न प्रकार से किया है।

अवगाहन शक्ति की अतिशयता

कोट्टाण खेत्तादो, जीवकखेत्तप्फलं अखंख-गुणं।
होदूण अपुद्ध त्ति हु, जिण-माहप्पेण ते सव्वे ॥(939)

समवसरण के कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यात

गुणा है, तथापि वे सब जीव जिनेन्द्रदेव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं।

यद्यपि समवसरण का क्षेत्रफल अधिक है परन्तु समवसरण के मध्य में स्थित गंधकुटी उत्कृष्ट से छह सौ धनुष एवं जघन्य से पचास धनुष प्रमाण है इसलिये गंधकुटी का क्षेत्रफल समवसरण के क्षेत्रफल से बहुत कम है। गंधकुटी में पूर्णवर्णित बारह सभाओं में मनुष्य, पशु-पक्षी, देव बैठकर एक साथ उपदेश सुनते हैं। उनकी संख्या पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण अर्थात् असंख्यात हैं। असंख्यात जीवों के बैठने योग्य क्षेत्र का क्षेत्रफल बारह सभा के क्षेत्रफल से असंख्यातगुणा कम है। भौतिक विज्ञान, क्षेत्रगणित, अंकगणित के सिद्धांत के अनुसार बैठने योग्य क्षेत्र का क्षेत्रफल एवं बैठने वाले जीवों के आसन का क्षेत्रफल कम से कम समान होना चाहिए परन्तु यहाँ पर से बैठने का योग्य क्षेत्रफल से बैठने वाले जीवों के क्षेत्रफल असंख्यात गुणा हैं। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि कम क्षेत्रफल में अधिक जीव कैसे बैठ सकते हैं? इसका उत्तर देते हुये आचार्यश्री ने बताया है कि यह जिनेन्द्र भगवान् के अलौकिक महात्म्य का फल है। एक छोटे से कैमरे में हजारों मनुष्यों की प्रतिच्छाया अंकित हो जाती है। मनुष्यों का क्षेत्रफल हजारों वर्गमीटर हो सकता है। परन्तु कैमरे के लेन्स का क्षेत्रफल कुछ सेन्टीमीटर होता है। एक बहुत कम क्षेत्र विशिष्ट लेन्स में अधिक क्षेत्रफल में स्थित एवं अधिक क्षेत्रफल विशिष्ट मनुष्यों की प्रतिच्छाया आ जाती है। इसका कारण लेन्स के कांच का वैशिष्ट है। सामान्य कांच में इस प्रकार प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता है उसी प्रकार सामान्य मनुष्यों के कारण उनके क्षेत्र में अनेक जीव कम क्षेत्र में नहीं रह सकते हैं परन्तु विशिष्ट अलौकिक प्रतिभासम्पन्न महापुरुषों के कारण अधिक जीव कम क्षेत्रफल में रहने में बाधा नहीं आती है। अक्षीण क्षेत्रऋद्धि सम्पन्न मुनिवर जिस छोटी सी गुफा में रहते हैं उस गुफा में अनेक जीव बिना बाधा से रह सकते हैं। जब एक सामान्य ऋद्धिधारी मुनीश्वर के महात्म्य से ऐसा होना सम्भव है तब क्षायिक नवलब्धि सम्पन्न विश्व के सर्वोत्कृष्ट महापुरुषों के निमित्त से कम क्षेत्र में अधिक जीव रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

विश्वधर्म सभा के प्रभाव से वैरत्व दूरः-

भरत क्षेत्र के विजयार्ध की दक्षिण श्रैणी में एक चक्रवाल नाम का नगर है। उसमें पूर्णधन नाम का विद्याधरों का राजा राज्य करता था। वह महाप्रभाव से युक्त तथा विद्याओं के बल से उन्नत था। उसने विहायस्तिलक नगर के राजा सुलोचन से उसकी कन्या की याचना की पर सुलोचन ने अपनी कन्या पूर्णधन को न देकर निमित्तज्ञानी की आज्ञानुसार सगर चक्रवर्ती के लिए दे दी। इधर राजा सुलोचन और पूर्णधन के बीच जब तक भयंकर युद्ध होता है तब तक सुलोचन का पुत्र सहस्रनयन अपनी बहन को लेकर अन्यत्र चला गया। पूर्णधन ने सुलोचन को मारकर नगर में प्रवेश किया परन्तु जब कन्या नहीं देखी तो अपने नगर को वापस लौट आया। तदनन्तर पिता का वध सुनकर सहस्रनयन पूर्णमेघ पर बहुत ही कुपित हुआ परन्तु निर्बल होने से कुछ कर नहीं सका। वह अष्टापद आदि हिंसक जन्तुओं से भरे वन में रहता था और सदा पूर्णमेघ के छिद्र देखता रहता था। तदनन्तर एक मायामयी अश्व सगर चक्रवर्ती को हर ले गया सो वह उसी वन में आया जिसमें कि सहस्रनयन रहता था। सौभाग्य से सहस्रनयन की बहन उत्पलमती ने चक्रवर्ती को देखकर भाई से यह समाचार कहा। सहस्रनयन यह समाचार सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और उसने उत्पलमती, सगर चक्रवर्ती के लिए प्रदान कर दी। चक्रवर्ती ने भी पूर्णधन को विद्याधरों का राजा बना दिया। जो छह खण्ड का अधिपति था तथा समस्त राजा जिसका शासन मानते थे ऐसा चक्रवर्ती सगर उस स्त्री को पाकर बहुत भारी सन्तोष को प्राप्त हुआ। विद्याधरों का अधिपत्य पाकर सहस्रनयन ने पूर्णधन के नगर को चारों ओर से कोट के समान धेर लिया। तदनन्तर दोनों के बीच मनुष्यों का संहार करने वाला बहुत भारी युद्ध हुआ जिसमें सहस्रनयन ने पूर्णमेघ को मार डाला। तदनन्तर पूर्णधन के पुत्र मेघवाहन को शत्रुओं ने चक्रवाल नगर से निर्वासित कर दिया सो वह आकाश रूपी आंगन में भ्रमण करने लगा। उसे देखकर बहुत से कुपित विद्याधरों ने उसका पीछा किया सो वह अत्यन्त दुःखी होकर तीन लोक के जीवों को सुख उत्पन्न करनेवाले भगवान् अजितनाथ की शरण में पहुँचा। वहाँ इन्द्र ने उससे भय का कारण पूछा। तब मेघवाहन ने कहा

कि हमारे पिता पूर्णघन और सहस्रनयन के पिता सुलोचन में अनेक जीवों का विनाश करने वाला वैर भाव चला आ रहा था रो उसी संस्कार के दोष से अत्यन्त कूरचित के धारक सहस्रनयन ने सगर चक्रवर्ती का बल पाकर मेरे बन्धुजनों का क्षय किया है। इस शत्रु ने मुझे भी बहुत भारी त्रास पहुँचाया है सो मैं महल से हंसों के साथ उड़कर शीघ्र ही यहाँ आया हूँ। तदनन्तर जो राजा मेघवाहन का पीछा कर रहे थे उन्होंने सहस्रनयन से कहा कि वह इस समय भगवान् अजितनाथ के समीप है अतः हम उसे पकड़ नहीं सकते। यह सुनकर सहस्रनयन रोषवश स्वयं ही चला और मन ही मन सोचने लगा कि देखें मुझसे अधिक बलवान् दूसरा कौन है जो इसकी रक्षा कर सके। ऐसा सोचता हुआ वह भगवान् के समवसरण में आया। सहस्रनयन ने ज्यों ही दूर से भगवान् का प्रभामण्डल देखा त्यों ही उसका समस्त अहंकार चूर-चूर हो गया। उसने 'भगवान्' अजितनाथ को प्रणाम किया। सहस्रनयन और मेघवाहन दोनों ही परस्पर का वैर भाव छोड़कर भगवान् के समीप जा बैठे। (पद्मपुराण - 1 पृ. 72)

अध्याय 3

समोवसरण का वैचित्र्य पूर्ण वर्णन

कुबेर की किमिच्छक घोषणा:-

विहारभिमुखेऽगाग्रज्जिनेन्द्रवतरिष्यति ।

स्वर्गाग्रदिव भूलोकं समुद्धर्तुं भवोदधेः ॥(1)

गृह्यतां गृह्यतां काम्यं यथाकाममिहार्थिमिः ।

इति नित्यं धनेशेन द्युष्यते कामघोषणा ॥(2)

(हरिवंशपुराण सर्ग 59 पृ. 694)

जिस प्रकार पहले संसार समुद्र से प्राणियों को पार करने के लिए भगवान् स्वर्ग के अग्रभाग से पृथिवी लोक पर अवर्तीर्ण हुए थे, उसी प्रकार जब विहार के लिए सम्मुख हो गिरनार पर्वत के शिखर से नीचे उतरने के लिए उद्यत हुए तब कुबेर ने निरन्तर यह मनचाही घोषणा शुरू कर दी कि जिस याचक को जिस वस्तु की इच्छा हो वह यहाँ आकर उसे इच्छानुसार ले।

इच्छित वस्तु प्रदायी भूमि:-

कामदा कामवद्भूमिः कल्प्यते मणिकुट्टिमा ।

माङ्गल्यविजयोद्योगे विभोः किं वा न कल्प्यते ॥(3)

उस समय कामधेनु के समान इच्छित पदार्थ प्रदान करने वाली मणिमयी भूमि बनायी गयी। सो ठीक ही है क्योंकि भगवान के मंगलमय विजयोद्योग के समय क्या नहीं किया जाता? अर्थात् सब कुछ किया जाता है।

सर्व भूत हितकारी 4 महाभूतः-

महाभूतानि सर्वाणि भर्तुभूतहितोद्यमे ।

सर्वभूतहितानि स्युस्तादशी खलु सार्वता ॥(4)

जब कि भगवान् का समस्त भूतों-प्राणियों के हित के लिए उद्यम हो रहा था तब पृथिवी, जल, अग्नि और वायुरूप चार महाभूत भी समस्त भूतों-प्राणियों के हितकर हो गये, सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् की सर्वहितकारिता वैसी ही अनुपम थी।

धन की वर्षा:-

प्रावृष्णेणाम्बुधारेव वसुधारा वसुन्धराम्।
दिवोऽन्वर्थाभिधानत्वं नयतीन्यपतत्पथि ॥(5)

धन की बड़ी मोटी धारा वर्षा ऋतु के मेघ की जलधारा के समान पृथिवी के वसुन्धरा नाम को सार्थकता प्राप्त कराती हुई आकाश से मार्ग में पड़ने लगी।

कमलमयी पंक्तियाँ:-

ये द्वे (यद् द्वे) पूर्वोत्तरे पड़क्ति हेमाम्बुजसहस्रयोः।
सहस्रपत्रं तत्पूतं भुवः कण्ठे गुणाकृती ॥(7)

सर्वप्रथम देवों ने एक ऐसे सहस्र दलमय पवित्र कमल की रचना की जो पूर्व और उत्तर की ओर स्वर्णमय हजार-हजार कमलों की दो पंक्तियाँ धारण करता था तथा वे पंक्तियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो पृथिवी रूपी स्त्री के कण्ठ में पड़ी दो मालाएँ ही हों।

पद्मरागमयं भास्वच्छिव्रलविचित्रितम्।
प्रवृत्तप्रतिपत्रस्थपद्माभागमनोहरम् ॥(8)

सहस्राक्षसहस्राक्षिभृङ्गावलिनिषेवितम्।
देवासुरनरालोकमधुपापानमण्डलम् ॥(9)

पद्मोद्भासि परं पुण्यं पद्मयानं प्रकाशते।
सद्यो योजनविष्कम्भं तच्चतुर्भागकर्णिकम् ॥(10)

वह कमल पद्मराग मणियों से निर्मित था, दैदीप्यमान नाना प्रकार के रत्नों से चित्र-विचित्र था, प्रत्येक पत्र पर स्थित लक्ष्मी के भाग से मनोहर

था, इन्द्र के हजार नेत्रलूपी भ्रमरावली से सेवित था, देव, धरणेन्द्र और मनुष्यों के नेत्रलूपी भ्रमरों के लिए मानो मधुगोषी का स्थान था, लक्ष्मी से सुशोभित था, परम पुण्यरूप था, एक योजन विस्तृत था और उसके चौथाई भाग प्रमाण उसकी कर्णिका-डण्ठल थी।

महिमाग्रे सुरेशाष्टमूर्तिस्पष्टगुणश्रियः।
वसवोऽष्टौ पुरोधाय वासवं वरिवस्यया ॥(11)
जय प्रसीद भर्तुस्ते वेला लोकहितोद्यमे।
जाताद्येत्यानमन्तीशं स हि विश्वसृजो विधिः ॥(12)

यह कमल पद्मयान के नाम से प्रसिद्ध था। सेवा द्वारा इन्द्र को आगे कर आठ वसु उस पद्मयान के आगे-आगे चले रहे थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो इन्द्र के अणिमा, महिमा आदि आठ गुण ही मूर्तिधारी हो, चल रहे हों। वे वसु यह कहते हुए भगवान् को प्रणाम करते जा रहे थे कि है भगवन्! आप जयवन्त हों, प्रसन्न होइए, लोकहित के लिए उद्यम करने का आज समय आया है। यथार्थ में वह सब भगवान् का माहात्म्य था।

ततः प्रक्रमते शम्भुरारोदुं पद्मयानकम्।
तत्क्षणं भूयते भूम्या हृष्टसंभ्रान्तयापि च ॥(13)

तदनन्तर उस पद्मयान पर भगवान् जिनेन्द्र आरुढ़ हुए थे और उस समय पृथिवी हर्ष से झूमती हुई-सी जान पड़ती थी।

धर्म दिग्विजय प्रमाण की अद्भूत छठा:-

विजयी विहरत्येष विश्वेशो विश्वभूतये।
धर्मचक्रपुरस्सारी त्रिलोकी तेन सम्पदा ॥(14)

वर्धतां-वर्धतां नित्यं निरीतिर्मरुतामिति।
श्रूयतेऽत्यम्बुदध्वानः प्रयाणपटहध्वनिः ॥(15)

उस समय मेघों के शब्द को पराजित करने वाला देव-दुन्दुभियों का यह प्रयाणकालिन शब्द सुनाई पड़ रहा था कि धर्मचक्र को आगे-आगे चलानेवाले

में जगत् के स्वामी विजयी भगवान् सब जीवों के वैभव के लिए विहार कर रहे हैं। इनके इस विहार से तीन लोक के जीव सम्पत्ति से वृद्धि को प्राप्त हों अर्थात् सबकी सम्पदा वृद्धिंगत हो और सब अतिवृष्टि आदि इतियों से रहित हों।

वीणावेणुमृदङ्गोरुभल्लरीशङ्काहलैः।
तूर्यमङ्गलघोषोऽपि पयोधिमधिगर्जति ॥(16)

उस समय वीणा, बाँसुरी, मृदंग, विशाल झालर, शंख और काहल के शब्द से युक्त तुरही का मंगलमय शब्द भी समुद्र की गर्जना को तिरस्कृत कर रहा था।

संकथाक्रोशगीताद्वहासैः कलकलोत्तरैः।
द्यावापृथिव्यो प्राप्नोति प्रास्थानिकमहारवः ॥(17)

प्रस्थान काल में होने वाला बहुत भारी शब्द, उत्तम कथा, चिल्लाहट, गीत, अद्व्यास तथा अन्य कल-कल शब्दों से आकाश और पृथिवी के अन्तराल को व्याप कर रहा था।

वल्मु गायन्ति किन्नर्यो नृत्यन्त्यप्सरसो दिवि।
स्पृशन्त्यातोद्यमानर्ता गन्धर्वादय इत्यपि ॥(18)

स्तुवन्ति मङ्गलस्तोत्रैर्जयमङ्गलपूर्वकेः।
तत्र-तत्र सतां वन्द्यं वन्दिनो नृसुरासुराः ॥(19)

आकाश में किन्नरियाँ मनोहर गान गाती थीं, अप्सराएँ नृत्य करती थीं, झूमते हुए गन्धर्व आदि देव तबला बजा रहे थे और नमस्कार करते हुए मनुष्य, सुर तथा असुर सज्जनों के द्वारा वन्दनीय भगवान् को नमस्कार करते हुए जय-जय की मंगलध्वनिपूर्वक मंगलमय स्तोत्रों से जहाँ-तहाँ उनकी स्तुति कर रहे थे।

चित्रेश्वित्तहरैर्दिव्यैर्मनुषैश्च समन्ततः।
नृत्यसङ्गीतवादित्रैर्भूतलेऽपि प्रभूयते ॥(20)

पृथिवी तल पर भी सब ओर मनुष्य चित्त को हरने वाले नाना प्रकार के दिव्य नृत्य, संगीत और वादित्रों से युक्त हो रहे थे।

“विहार के समय देवों की भक्ति”

पालयन्ति सदिग्भागैर्लोकपालाः सभूतयः।
भर्तृसेवा हि भृत्यानां स्वाधिकारेषु सुस्थितिः ॥(21)

विभूतियों से सहित लोकपाल समस्त दिग्भागों के साथ सबकी रक्षा कर रहे थे। सो ठीक ही है क्योंकि अपने-अपने नियोगों पर अच्छी तरह स्थित रहना ही भूत्यों की स्वामी सेवा है।

धावन्ति परितो देवाके चिद्रासुरदर्शनाः।
हिंसया ज्यायसः सर्वानुत्सार्योत्सार्य दूरतः ॥(22)

दैदीप्यमान दृष्टि के धारक कितने ही देव समस्त हिंसक जीवों को दूर खदेड़ कर चारों ओर दौड़ रहे थे।

उदस्तैरत्नवलयैर्वीचिहस्तैः कृताञ्जलिः।
भर्त्रै प्रीतस्तदोदन्वान्वेलामूर्धना नमस्यति ॥(23)

उस समय प्रसन्नता से भरा समुद्र रत्नरूप वलयों से सुशोभित ऊपर हुए तरंगरूपी हाथों से अंजली बाँधकर बेलारूपी मस्तक से मानों भगवान् के लिए नमस्कार ही कर रहा था।

विलम्बितसहस्रार्क्युगपत्पतनोदयैः।
नमतान्नन्दितालोकनामोन्नामैः पदे पदे ॥(24)

सुराणां भूतलस्पर्शिमकुटैर्बहुकोटिभिः।
भूः पुरः सोपहारेव शोभतेऽम्बुजकोटिभिः ॥(25)

उस समय डग-डग पर भगवान् को नमस्कार करने वाले देवों के करोड़ों दैदीप्यमान मुकुटों का बहुत भारी प्रकाश बार-बार नीचे को झुकता और बार-बार ऊपर को उठता था। उससे ऐसा जान पड़ता था मानों हजारों सूर्यों का पतन तथा उदय एक साथ हो रहा हो। उन्हीं देवों के जब करोड़ों मुकुट

पृथिवीतल का स्पर्श करते थे तब भगवान् के आगे की भूमि ऐसी सुशोभित होने लगती थी मानों उस पर करोड़ों कमलों की भेंट ही चढ़ाई गयी हो।

लौकान्तिकाः पुरो यान्ति लोकान्तर्ण्यपितेजसः ।
लोकेशस्य यथालोकाः पुरोगा मूर्तिसंभवाः ॥(26)

जिनका तेज लोक के अन्त तक व्याप्त था, ऐसे लौकान्तिक देव भगवान् के आगे-आगे चल रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों लोक के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र का प्रकाश ही मूर्तिधारी हो आगे-आगे गमन कर रहा था।

पद्मा सरस्वतीयुक्ता परिवारात्तमङ्गला ।
पद्महस्ता पुरो याति परीत्य परमेश्वरम् ॥(27)

जिनके परिवार की देवियों ने मंगलद्रव्य धारण कर रखे थे तथा जिनके हाथों में स्वयं कमल विद्यमान थे ऐसी पद्मा और सरस्वती देवी, भगवान् की प्रदक्षिणा दे कर उनके आगे-आगे चल रही थी।

प्रसीदेत इतो देवेत्यानम्य प्रकृताभ्युलिः ।
तद्भूमिपतिभिः सार्धं पुरो याति पुरन्दरः ॥(28)

हे देव ! इधर प्रसन्न होइए, इधर प्रसन्न होइए इस प्रकार नमस्कार कर जिसने अंजलि बाँध रखी थी ऐसी इन्द्र तद-तद भूमिपतियों के साथ भगवान् के आगे-आगे चल रहा था।

एवमीशस्त्रिलोकेशपरिवारपरिष्कृतः ।
लोकानां भूतये भूतिमुद्भवन् सार्वलौकिकीम् ॥(29)

पद्मकेतुः पवित्रात्मा परमं पद्मयानकम् ।
भव्यपद्मैकसद्बन्धुर्यदारोहति तत्क्षणात् ॥(30)

जय नाथ जय ज्येष्ठ जय लोकपितामह ।
जयात्मभूर्जयात्मेश जय देव जयाच्युत ॥(31)

जयसर्वजगद्बन्धो जय सद्धर्मनायक ।
जयसर्वशरण्यश्रीर्जय पुण्यजयोत्तम ॥(32)

इत्युदीर्णसुकृदधोषो रुन्धानो रोदसी स्फुटः ।
जयत्युच्योऽतिगम्भीरो घनाघनघनध्वनिः ॥(33)

इसी प्रकार जो तीनों लोकों के इन्द्र उनके परिवार से धिरे हुये थे, लोगों की विभूति के लिए जो समस्त लोक की विभूति को धारण कर रहे थे, जो कमल की पताका से सहित थे। जिनकी आत्मा अत्यन्त पवित्र थी और जो भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने के लिए उत्तम सूर्य के समान थे ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र जिस समय उस पदमयान पर आरुढ़ हुए उसी समय देवों ने मेघ गर्जना के समान यह शब्द करना शुरू कर दिया कि हे नाथ ! आपकी जय हो, हे ज्येष्ठ ! आपकी जय हो, हे लोकपितामह ! आपकी जय हो, हे आत्मभु ! आपकी जय हो, हे आत्मेश ! आपकी जय हो, हे देव ! आपकी जय हो, हे अच्युत ! आपकी जय हो, हे समस्त जगत् के बन्धु ! आपकी जय हो, हे समीचीन धर्म के स्वामी ! आपकी जय हो, हे सबके शरणभूत लक्ष्मी के धारक ! आपकी जय हो, हे पुण्यरूप ! आपकी जय हो, हे उत्तम ! आपकी जय हो ! इस प्रकार उठा हुआ पुण्यात्मा जनों का जोरदार, अत्यन्त गम्भीर एवं मेघ गर्जना की तुलना करने वाले वह शब्द आकाश और पृथ्वी के अन्तराल को व्याप करता हुआ अत्यधिक सुशोभित हो रहा था।

स देवः सर्वदेवेन्द्रव्याहृतालोकमङ्गलः ।
तन्मौलिभ्रमरालीढभ्रमत्पादपयोरुहः ॥(34)

तत्पयोरुहवासिन्या पद्मयानन्दयज्जगत् ।
व्यहरत परमोदभूतिर्भूतानामनुकम्पया ॥(35)

तदनन्तर समस्त इन्द्र जिनके जय-जयकार और मंगल शब्दों का उच्चारण कर रहे थे, जिनके चलते हुए चरण कमल उन इन्द्रों के मुकुटरूपी भ्रमरों से व्याप्त थे, जो उन कमलों में निवास करने वाली लक्ष्मी से समस्त जगत् को आनन्दित कर रहे थे और जो अत्यन्त उत्कृष्ट विभूति के धारक थे, ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र जीवों पर दयाकर बिहार करने लगे।

देवमार्गो थिते दिव्ये विन्यस्याब्जे पदाम्बुजम्।
स्वच्छाम्भोवाङ्मुखाम्भोजप्रतिबिम्बश्रिणि प्रभुः ॥(36)

वे प्रभु आकाश में स्वच्छ जल के भीतर पड़ते हुए मुख-कमल के प्रतिबिम्ब की शोभा को धारण करने वाले दिव्य कमल पर अपने चरण कमल रखकर बिहार कर रहे थे।

उद्यतस्तस्य लोकार्थं राजराजः पुरस्सरः।
राजते राजयन्मार्गं पुरोभानोर्यथारूणः ॥(37)

उस समय भगवान् के दर्शन करने के लिए उद्यत एवं उनके आगे-आगे चलने वाला कुबेर मार्ग को सुशोभित करता हुआ ऐसा जान पड़ता था जैसे सूर्य के आगे चलता हुआ उसका सारथी अरुण हो।

“मंगलमय का मंगलमय मार्ग”

पदवी जातरूपाङ्गी स्फुरन्मणिविभूषणा।
श्लाघते सा सती स्वभर्त्रे स्वभर्त्रे भासिनी यथा ॥(38)

भगवान् के विहार का वह मार्ग सुवर्णमय था एवं दैदीप्यमान मणियों के आभूषण से सहित था। इसलिए अपने पति के स्थित सुवर्णमय शरीर की धारक एवं दैदीप्यमान मणियों के आभूषणों से सुशोभित पतिव्रता स्त्री के समान प्रशंसनीय था।

परितः परिमार्जन्ति मरुतो मधुरेरणैः।
अवदातक्रियायोगैः स्वां वृतिं साधवो यथा ॥(39)

जिस प्रकार मुनिगण निर्मल क्रियाओं से अपनी वृत्ति को सदा साफ करते रहते हैं—निर्दोष बनाये रखते हैं उसी प्रकार पवन कुमार देव वायु के मन्द-मन्द झोकों से उस मार्ग को साफ बनाये रखते हैं।

अभ्युक्षन्ति सुरास्तत्र गन्धाम्भोऽम्बुदवाहनाः।
स्फुरत्सौदासिनीदीप्तिभासिताखिलदिङ्मुखाः ॥(40)

कौंधती हुई बिजली की चमक से समस्त दिशाओं के अग्रभाग को

प्रकाशित करने वाले मेघवाहन देव उस मार्ग से सुगन्धित जल सींचते जाते थे।

मन्दारकुसुमैर्मत्तभ्रमद्भ्रमरचुम्बितैः।
नन्द्यते सुरसंघातैर्मार्गो मार्गविदुद्यमे ॥(41)

मोक्ष मार्ग के ज्ञाता भगवान् के विहार काल में देवों के समूह जिन पर मदोन्मत्त भौंरे मंडरा रहे थे ऐसे मन्दार वृक्ष के पुष्पों से मार्ग को सुशोभित कर रहे थे।

ज्योतिर्मण्डलसंकाशैः सौवर्णरसमण्डलैः।
सलग्नैः शोभते मार्गो रत्नचूर्णतलाचितैः ॥(42)

वह मार्ग, गले हुए सोने के रस के उन मण्डलों से जिनके कि तलभाग रत्नों के चूर्ण से व्याप थे एवं नक्षत्रों के समूह के समान जान पड़ते थे, अतिशय सुशोभित हो रहा था।

गुह्यकाश्चित्रपत्राणि चिन्वते कौड़मै रसैः।
चित्रकर्मज्ञतां चित्रां स्वामाचिख्यासवो यथा ॥(43)

गुह्यक जाति के देव केसर के रस से नाना प्रकार के बेल बूटे बनाते जाते थे मानो वे अपनी चित्रकर्म की नाना प्रकार की कुशलता को प्रगट करना चाहते थे।

कदलीनालिकेरेक्षुक्रमुकाधैः क्रमस्थितैः।
सपत्रैर्मार्गसीमापि रम्यारामायते द्वयी ॥(44)

मार्ग के दोनों ओर की सीमाएं क्रमपूर्वक खड़े किए हुए पत्रों से युक्त केला, नारियल, ईख तथा सुपारी आदि के वृक्षों से सुन्दर बगीचों के समान जान पड़ती थीं।

तत्राक्रीडपदानि स्युः सुन्दराणि निरन्तरम्।
यत्र हृष्टाः स्वकान्तभिराक्रीडयन्ते नरामराः ॥(45)

मार्ग में निरन्तर सुन्दर क्रीड़ा के स्थान बने हुए थे जिनमें हर्ष से

भरे मनुष्य और देव अपनी स्त्रियों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करते थे।

भोग्यान्यपि यथाकामं भगोगिनां भोगभूमिवत् ।
सर्वाण्यन्यूनभूतीनि संभवन्त्यन्तरेऽन्तरे ॥(46)

जिस प्रकार भोग भूमि में भोगी जीवों को इच्छानुसार भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार उस मार्ग में भी, बीच-बीच में भोगी जीवों को उत्कृष्ट विभूति से युक्त सब प्रकार की भोग वस्तुएँ प्राप्त होती रहती थीं।

योजनत्रयविस्तारो मार्गो मार्गान्तर्योर्द्वयोः ।
सीमानौ द्वे अपि ज्ञेये गव्यूतिद्वयविस्तृते ॥(47)

भगवान् के विहार का वह मार्ग तीन योजन चौड़ा बनाया गया था तथा मार्ग के दोनों ओर की सीमाएँ दो-दो कोस चौड़ी थीं।

तोरणैः शोभते मार्गः करणैरिव कल्पितैः ।
दृष्टिगोचरसंपन्नैः सौवर्णैरष्टमङ्गलैः ॥(48)

वह मार्ग जगह-जगह निर्मित तोरणों तथा दृष्टि में आने वाले सुवर्णमय अष्टमङ्गल द्रव्यों से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इन्द्रियों से ही सुशोभित हो रहा था।

कामशाला विशाला: स्युः कामदास्तत्र तत्र च ।
भागवत्यो यथा मूर्ताः कामदा दानशक्तयः ॥(49)

मार्ग में जगह-जगह भोगियों को इच्छानुसार पदार्थ देने वाली बड़ी-बड़ी कामशालाएँ बनी हुई थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो इच्छानुसार पदार्थ देने वाली भगवान् की मूर्तिमती दान शक्तियाँ ही हों।

तोरणान्तरभूतङ्गसमस्तकदलीध्वजैः ।
संचन्नोऽध्वा घनच्छायो रुणद्वि सवितुश्छविम् ॥(50)

तोरणों की मध्य भूमि में ऊँचे-ऊँचे केले के वृक्ष तथा ध्वजाएँ लगी हुई थीं उनसे आच्छादित हुआ मार्ग इतनी सघन छाया से युक्त हो गया

था कि वह सूर्य की छवि को भी रोकने लगा था।

मंगल विहार का मंडप:-

वनवासिसुरैर्वन्यमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरः ।
स्वपुण्यप्रचयाकारः कल्प्यते पुष्पमण्डपः ॥(51)

वन के निवासी देवों ने वन की मञ्जरियों के समूह से पीला-पीला दिखने वाला पुष्पमण्डप तैयार किया था जो उनके अपने पुण्य के समूह के समान जान पड़ता है।

युक्तो रत्नलताचित्रभित्तिभिः सद्वियोजनः ।
चन्द्रादित्यप्रभारोचिर्भण्डलोपान्तमण्डितः ॥(52)

घण्टकाकलनिर्वादेर्घण्टानादर्निनादयन् ।
दिशो मुक्तागुणामुक्तप्रान्तमध्यान्तरान्तरः ॥(53)

सदगन्धाकृष्टसंभ्रान्तभृङ्गमालोलसद्युतिः ।
वियतीशयशोभूर्तवितानच्छविरीक्ष्यते ॥(54)

सोत्तम्भस्तम्भसंकाशैः रथूलमुक्तागुणोद्भवैः ।
चतुर्भिर्दामिभिर्भाति विद्वमान्तान्तराचितैः ॥(55)

तस्यात्तरस्थो दयामूर्तिः प्रयति दमिताहितः ।
हिताय सर्वलोकस्य स्वयमीशः स्वयंप्रभः ॥(56)

वह पुष्पमण्डप रत्नमयी लताओं के चिरों से सुशोभित दीवालों से युक्त था, दो योजन विस्तार वाला था, चन्द्रमा और सूर्य की प्रभा के कान्तिमण्डल से समीप में सुशोभित था, छोटी-छोटी घण्टियों की रुनझुन और घण्टाओं के नाद से दिशाओं को शब्दायमान कर रहा था, उसके दोनों छोर तथा मध्य का अंतर मोतियों की मालाओं से युक्त था, उत्तम गंध से आकर्षित हो सब ओर मँडराते हुए भ्रमरों के समूह से उसकी कान्ति उल्लसित हो रही थी, आकाश में उसका चैंदेवा भगवान् के मूर्तिक यश के समान दिखाई देता था, उस मण्डप के चारों कोनों में ऊँचे खड़े किये हुए खम्भों के समान सुशोभित, बड़े-बड़े मोतियों से निर्मित तथा बीच-बीच में मूंगाओं से खचित

चार मालाएँ लटक रही थी, उनसे वह अधिक सुशोभित हो रहा था। दया की मूर्ति, अहित का दमन करने वाले, स्वयं ईश एवं स्वयं दैदीप्यमान भगवान् नेमि जिनेन्द्र उस मण्डप के मध्य में स्थित हो समस्त जीवों के हित के लिए विहार कर रहे थे।

सात-सात भव प्रदर्शक भामण्डलः-

पश्यन्त्यात्मभवान् सर्वे सप्त सप्त परापरान्।
यत्र तद्ग्रासतेऽत्यर्कं पश्चाद्माण्डलं प्रभोः ॥(57)

उसी पुष्पमण्डप में भगवान् के पीछे सूर्य को पराजित करने वाला भामण्डल सुशोभित होता था जिसमें सब जीव अपने आगे-पीछे से सात-सात भव देखते हैं।

मंगलमय की मंगल यात्रा के मंगल द्रव्यः-

त्रिलोकीवान्तसाराभात्युपर्युपरि निर्मला ।
त्रिच्छत्री सा जिनेन्द्रश्रीस्त्रैलोक्येशित्वशंसिनी ॥(58)

भगवान् के शिर पर ऊपर-ऊपर अत्यन्त निर्मल तीन छत्र सुशोभित हो रहे थे जिनमें तीनों लोकों के द्वारा सार तत्व प्रकट किया गया था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो वह जिनेन्द्र भगवान् की लक्ष्मी तीन लोक के स्वामित्व को सूचित ही कर रही थी।

चामराण्यभितो भान्ति सहस्राणि दमेश्वरम् ।
स्वयंवीज्यानि शैलेन्द्रं हंसा इव नभस्तले ॥(59)

भगवान् के चारों ओर अपने आप ढुलने वाले हजारों चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे आकाशतल में मेरु पर्वत के चारों ओर हंस सुशोभित होते हैं।

ऋषयोऽनुव्रजन्तीशं स्वर्गिणः परिवृण्वते ।
प्रतीहारः पुरो याति वासवो वसुभिः सह ॥(60)

ऋषिगण भगवान् के पीछे-पीछे चल रहे थे, देव उन्हे धेरे हुए थे और

इन्द्र प्रतिहार बनकर 8 वस्तुओं के साथ भगवान् के आगे-आगे चलता था।

ततः केवललक्ष्मीतः प्रतिपद्या प्रकाशते ।
साकं शच्या त्रिलोकोरुभूतिर्लक्ष्मीः समङ्गला ॥(61)

इन्द्र के आगे तीन लोक की उत्कृष्ट विभूति से युक्त लक्ष्मी नामक देवी मंगलद्रव्य लिए शची देवी के साथ-साथ जा रही थी और वह केवलज्ञानरुपी लक्ष्मी के प्रतिबिम्ब के समान जान पड़ती थी।

श्रीसनाथैस्ततः सर्वैर्भूयते पूर्णमङ्गलैः ।
मङ्गलस्य हि माङ्गल्या यात्रा मङ्गलपूर्विका ॥(62)

तदनन्तर श्रीदेवी से सहित समस्त एवं परिपूर्ण मंगलद्रव्य विद्यमान थे सो ठीक ही है क्योंकि, मंगलमय भगवान् की मंगलमय यात्रा मंगलद्रव्यों से युक्त होती ही है।

शङ्खपद्मौ ज्वलन्मौलिसार्थीयौ सत्त्वकामदौ ।
निधिभूतौ प्रवर्तेते हेमरत्नप्रवर्षिणौ ॥(63)

उनके आगे, जिन पर दैदीप्यमान मुकुट के धारक प्रमुख देव बैठे थे ऐसी शंख और पद्म नामक दो निधियाँ चलती थी। ये निधियाँ समस्त जीवों को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करने वाली थी तथा सुवर्ण और रत्नों की वर्षा करती जाती थी।

भास्वत्कणामणिज्योतिर्दीपिका भान्ति पञ्चगाः ।
हतान्धतमसज्ञानदीपदीप्त्यनुकारिणः ॥(64)

उनके आगे फणाओं पर चमकते हुए मणियों की किरणरूप दीपकों से युक्त नागकुमार जाति के देव चलते थे और वे अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले केवलज्ञानरुपी दीपक की दीपि का अनुकरण करते हुए से जान पड़ते थे।

विश्वे वैश्वानरा यान्ति धृतधूपघटोद्घताः ।
यदगन्धो याति लोकान्तं जिनगन्धर्य सूचकः ॥(65)

उनके आगे धूपघटों को धारण करने वाले समस्त अग्निकुमार देव चल रहे थे। उन धूपघटों की गन्ध लोक के अन्त तक फैल रही थी और वह जिनेन्द्र भगवान् की गन्ध से सूचित कर रही थी।

सौम्याग्नेयगुणा देवभक्तः सोमदिवाकरः ।

स्वप्रभामण्डलादर्शमङ्गलानि वहन्त्यहो ॥(66)

तदनन्तर शान्त और तेजरूप गुण को धारण करने वाले, भगवान् के भक्त चन्द्र और सूर्य जाति के देव अपनी प्रभा के समूह रूप मंगलमय दर्पण को धारण करते हुए चल रहे थे।

तपनीयमयैश्छत्रैर्नभस्तपनरोधिभिः ।

तपनैरेव सर्वत्र संरुद्धभिव दृश्यते ॥(67)

उस समय सन्ताप को रोकने के लिए सुवर्णमय छत्र लगाये गये थे, उनसे सर्वत्र ऐसा जान पड़ता था मानो आकाश सूर्यों से ही व्याप्त हो रहा हो।

पताकाहस्तविक्षेपैः संतज्य परवादिनः ।
दयामूर्ता इवेशांसा नृत्यन्ति जयकेतवः ॥(68)

जगह-जगह विजय स्तम्भ दिखाई दे रहे थे, उनसे ऐसा जान पड़ता था मानों पताकारूपी हाथों के विक्षेप से पर वादियों को परास्त कर दयारूपी मूर्ति को धारण करने वाले भगवान् के मानो कन्धे ही नृत्य कर रहे हों।

वैभवी विजयाख्यातिवैजयन्ती पुरेडिता ।
राजते व्रिजगन्त्रेत्रकुमुदामलचन्द्रिका ॥(69)

आगे-आगे भगवान् की विजयपताका फहराती हुई सुशोभित थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो कि तीन जगत् के नेत्ररूपी कुमुदों को विकसित करने के लिए निर्मल चाँदनी ही हो।

बिहारावर में नृत्य एवं स्तुति-

भुवः स्वर्भूर्निवासिन्यो भुवि यदव्यन्तरा स्थिताः ।
नरीनृत्यन्ति देव्योऽग्रे प्रेमानन्दरसाष्टकम् ॥(70)

जो देवियां अधोलोक और ऊर्ध्वलोक में निवास करती हैं तथा पृथ्वी पर नाना स्थानों में निवास करने वाली हैं वे भगवान् के आगे प्रेम और आनन्द से रस प्रकट करती हुई नृत्य कर रही थीं।

आमन्द्रमधुरध्वानाव्यासदिविदिग्न्तरा ।

धीरं नानद्यते नान्दी जित्वा प्रावृद्धनावलीम् ॥(71)

जिसने अपनी गम्भीर और मधुर ध्वनि से समस्त दिशाओं और विदिशाओं के अन्तर को व्याप कर रखा था ऐसी नान्दी-ध्वनि (भगवत्स्तुति की ध्वनि) वर्षा ऋतु की मेघावली को जीतकर बड़ी गम्भीरता से बार-बार हो रही थी।

धर्म-चक्री की धर्म विजय का धर्म चक्र-

जितार्को धर्मचक्रार्कः सहस्रारांशुदीधितिः ।
याति देवपरिवारो वियतातितमोपहः ॥(72)

जिसने अपनी प्रभा से सूर्य को जीत लिया था, जो हजार अर रूप किरणों से सहित था, देवों के समूह से धिरा हुआ था और अत्यधिक अन्धकार को नष्ट कर रहा था ऐसा धर्मचक्र आकाश मार्ग से चल रहा था।

शरणक्षता की शरण में आओ-

लोकानामेकनाथोऽयमेतैत नमतेति च ।
घुष्यते स्तनितैरग्रैर्घोषणाभयघोषणा ॥(73)

आगे-आगे चलनेवाले स्तनितकुमार देव अभय घोषणा के साथ-साथ यह घोषणा करते जाते थे कि 'ये भगवान् तीन लोक के स्वामी हैं, आओ, आओ और इन्हें नमस्कार करो'।

सर्वाश्चर्य की प्राप्ति-

देवयात्रामिमां दिव्यामन्वेत्य परमाभृताम्।
अभूतान्यार्थदृष्ट्यादिसर्वाण्यसुभृतां भुवि ॥(75)

जो जीव अनेक आश्चर्यों से भरी हुई भगवान् की इस दिव्ययात्रा में साथ-साथ जाते थे, पृथिवी पर उन्हें अर्थ-दृष्टि को आदि लेकर समस्त आश्चर्यों की प्राप्ति होती थी। भावार्थ-उन्हें चाहे जहाँ धन दिखाई देना आदि अनेक आश्चर्य स्वयं प्राप्त हो जाते थे।

हर्षमय सर्व जीव-

आधयो नैव जायन्ते व्याधयो व्यापयन्ति न ।
ईत्यश्चाङ्गया भर्तुर्नैति तद्वेशमण्डले ॥(76)

जिस देश में भगवान् का विहार होता था उस देश में भगवान् की आङ्गा न होने से ही मानो किसी को न तो आधि-व्याधि-मानसिक और शारीरिक पीड़ाएँ होती थी और न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ ही व्याप्त होती थी।

अन्धा: पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति वधिराः श्रुतिम्।
मुकाः स्पष्टं प्रभाषन्ते विक्रमन्ते च पङ्गवः ॥(77)

वहाँ अनधे रूप देखने लगते थे, बहरे शब्द सुनने लगते थे, गँगे स्पष्ट बोलने लगते थे और लँगड़े चलने लगते थे।

सुखदायी प्रकृति-

नात्युष्णा नातिशीताः स्युरहोरात्रादिवृत्तयः।
अन्यच्चाशुभमत्येति शुभं सर्वं प्रवर्धते ॥(78)

वहाँ न अत्यधिक गरमी होती थी, न अत्यधिक ठण्ड पड़ती थी, न दिन-रात का विभाग होता था और न अन्य अशुभ कार्य अपनी अधिकता दिखला सकते थे सब ओर शुभ ही शुभ कार्यों की वृद्धि होती थी।

त्रसस्थावरकाः सर्वे सुखं विन्दन्ति देहिनः ।
सैषा विश्वजनीना हि विभूता भुवि वर्तते ॥(85)

भगवान् के विहार-क्षेत्र में स्थित समस्त त्रस, स्थावर जीव सुख को प्राप्त हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि संसार में विभूता वही है जो सबका हित करने वाली हो।

भूवधः सर्वसम्पन्नसरस्यरोमाञ्चकञ्जुका ।
करोत्यम्बुजहस्तेन भर्तुः पादग्रहं मुदा ॥(79)

उस समय सर्व प्रकार की फली-फूली धान्यरूपी रोमांच को धारण करने वाली पृथिवीरूपी स्त्री कमलरूपी हाथों के द्वारा बड़े हर्ष से भगवान् रूपी भर्तार के पादमर्दन कर रही थी।

जिनार्कपादसंपर्कप्रोत्पुल्लकमलावलीम् ।
प्रथयत्युद्धहन्ती द्यौरस्थायिसरसीश्रियम् ॥(80)

जिनेन्द्र रूपी सूर्य के पादरूपी किरणों के सम्पर्क से फूली हुई कमलावली को धारण करने वाला आकाश उस समय चलते-फिरते तालाब की शोमा को विस्तृत कर रहा था।

सर्वेऽत्युक्ताः समात्मानः समदृष्टेशेषिताः ।
ऋतवः सममेधन्ते निर्विकल्पा हि सेशिता ॥(81)

उस समय बिना कहे ही समस्त ऋतुएँ एक साथ वृद्धि को प्राप्त हो रही थी, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो समदृष्टि भगवान् के द्वारा अवलोकित होने पर वे समरूपी ही हो गयी थीं। यथार्थ में स्वामीपना तो वही है, जिसमें किसी के प्रति विकल्प-भेदभाव न हों।

निधानानि निधीरन्नान्याकराण्यभृतानि च ।
सूयते तेन विख्याता रत्नसूरिति मेदिनी ॥(82)

उस समय पृथिवी जगह-जगह अनेक खजाने, निधियाँ, अन्न, खाने और अमृत उत्पन्न करती थीं इसलिए 'रत्नसु' इस नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी।

अन्तकोऽन्तकजिद्वीर्यपराजितपराक्रमः ।

चर्मचक्रोर्जिते लोके नाकाले करमिच्छति ॥(83)

अन्तकजित्-यमराज को जीतने वाले भगवान् के वीर्य से जिसका पराक्रम पराजित हो गया था ऐसा यमराज, धर्मचक्र से सबल संसार में असमय में कर ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता था। भावार्थ-जहाँ भगवान् का धर्मचक्र चलता था वहाँ किसी का असमय में मरण नहीं होता था।

कालः कालहरस्याज्ञामनुकूलभयादिव ।
प्रविहाय स्ववैषम्यं पूज्येच्छामनुवर्तते ॥(84)

काल (यम) को हरने वाले हैं (पक्ष में समय को हरने वाले) भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण न हो जाये, इस भय से काल (समय) अपनी विषमता को छोड़कर सदा भगवान् की इच्छानुसार ही प्रवृत्ति करता था। भावार्थ-काल सर्दी-गरमी, दिन-रात आदि की विषमता छोड़ सदा एक समान प्रवृत्ति कर रहा था।

जन्मजात वैरी में भी मित्रता:-

जन्मानुबन्धवैरो यः सर्वोऽहिनकुलादिकः ।
तस्यापि जायतेऽजर्य संगतं सुगताज्ञया ॥(86)

जो साँप, नेवला आदि समस्त जीव जन्म से ही वैर रखते थे उन सभी में भगवान् की आज्ञा से अखण्ड मित्रता हो गयी थी।

सुगन्ध वयार-

गन्धवाहो वहदगन्धं भर्तुस्तं कथमान्तुयात् ।
अचण्डः सेवते सेवां शिक्षयन्ननुजीविनः ॥(87)॥

भगवान् की बहती हुई गन्धको, पवन किस प्रकार प्राप्त कर सकता है इस प्रकार अनुजीवी जनों को सेवा की शिक्षा देता हुआ वह शान्त होकर भगवान् की सेवा कर रहा था। भावार्थ-उस समय शीतल, मन्द सुगन्धित पवन भगवान् की सेवा कर रहा था सो ऐसा जान पड़ता था मानो वह सेवकजनों

की सेवा करने की शिक्षा ही दे रहा था।

पशु से भी नमस्करणीय चतुरानन-

दूराच्चाल्पधियः सर्वे नमन्ति किमुतेतरे ।
चतुरास्यश्वतुर्दिक्षु छायादिरहितो विभुः ॥(90)

उस समय अन्य की तो बात ही क्या थी अल्पबुद्धि के धारक तिर्यच आदि समस्त प्राणी भगवान् को दूर से ही नमस्कार करते थे। भगवान् चतुर्मुख थे इसलिए चारों दिशाओं में दिखाई देते और छाया आदि से रहित थे।

शुभंयवो नमन्त्येत्याहंयोऽपि प्रवादिनः ।
अवसानाभूतं चैतन्निर्वन्द्रं प्राभवं हि तत् ॥(92)

जिनका कल्याण होने वाला था ऐसे प्रवादी लोग, अहंकार से युक्त होने पर भी आ-आकर भगवान् को नमस्कार करते थे सो ठीक ही है क्योंकि उन जैसा प्रभाव अन्त में आश्चर्य करनेवाला एवं प्रतिपक्षी से रहित होता ही है।

दिक्पाल द्वारा सम्मान

यस्यां यस्यां दिशीशः स्यात्तिदशेशपुरस्सरः ।
तस्यां तस्यां दिशीशाः रस्युः प्रत्युद्याताः सपूजनाः ॥(93)

जिनके आगे-आगे इन्द्र चल रहा था ऐसे भगवान् जिस-जिस दिश में पहुँचते थे उसी-उसी दिश के दिक्पाल पूजन की सामग्री लेकर भगवान् की अगवानी के लिए आ पहुँचते थे।

यतो यतश्च यातीशस्तदीशाश्च समझ्नाः ।
अनुयान्त्याश्च सीमानः सार्वभौमो हि तादृशः ॥(94)

भगवान् जिस-जिस दिश से वापस जाते थे उस-उस दिश के दिक्पाल मंगल द्रव्य लिये हुये अपनी-अपनी रीमा तक पहुँचाने आते थे सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् उसी प्रकार के सार्वभौम थे—समस्त पृथिवी के अधिपति थे।

अद्भुत तेजपूर्ण कान्तिदण्ड-

तस्यामेकः समुच्चुज्ञो भादण्डो दण्डसन्निभः।
अधरोपरिलोकान्तः प्राप्तः प्रत्यागतांशुभिः ॥(96)

उस देवसेना के बीच दण्ड के समान एक बहुत ऊँचा कान्तिदण्ड विद्यमान था। जो नीचे से लेकर ऊपर लोक के अन्त तक फैला था और वापस आयी हुई किरणों से युक्त था।

त्रिगुणीकृततेजस्कः स्थूलदृश्यः स्वतेजसा।
भासते भास्करादन्याज्ज्योतिष्ठोमतिरस्करः ॥(97)

अन्य तेजधारियों की अपेक्षा उस कान्तिदण्ड का तेज तिगुना था। अपने तेज के द्वारा वह बड़ा स्थूल दिखाई देता था और सूर्य के सिवाय अन्य ज्योतिषियों के समूह को तिरस्कृत करने वाला था।

आलोको यस्य लोकान्तव्यापी निः प्रतिबन्धनः।
ध्वस्तान्धतमसो भास्वत्प्रकाशमतिवर्तते ॥(98)

उस कान्तिदण्ड का प्रकाश लोक के अन्त तक व्याप्त था, रुकावट से रहित था, गाढ़ अन्धकार को नष्ट करनेवाला था और सूर्य के प्रकाश को अतिक्रान्त करने वाला था।

तस्यान्तस्तेजसो भर्ता तेजोभय इवापरः।
रश्ममालिसहस्रैकरुपाकृतिरनाकृतिः ॥(99)

परितो भाभिसत्सर्पदघ्नो भर्तुर्महोदयः।
भासिगव्यूतिविस्तारो युक्तोच्छायस्तनूद्दवः ॥(100)

दृश्यते दृष्टिहारीव सुखदृश्यः सुखावहः।
पुण्यमूर्तिस्तदन्तस्थः पूज्यते पुरुषाकृतिः ॥(101)

उस कान्तिदण्ड के बीच में पुरुषाकार एक ऐसा दूसरा कान्तिसमूह दिखाई देता था जो तेज का धारक था, अन्य तेजोमय के समान जान पड़ता था, एक हजार सूर्य के समान कान्ति का धारक था, जिससे बढ़कर और

दूसरी आकृति नहीं थी, जो चारों और फैलनेवाली कान्ति के धनरूप था, भगवान् के महान अभ्युदय के समान था, जिसकी कान्ति का विस्तार एक कोस तक फैल रहा था जो भगवान् की ऊँचाई के बराबर ऊँचाँ था, दृष्टि को हरण करने वाला था, सुखपूर्वक देखा जा सकता था, सुख को उत्पन्न करने वाला था, पुण्य की मूर्तिस्वरूप था और सबके द्वारा पूजा जाता था।

काधियोऽपुण्यजन्मानः स्वापुण्यजरुषान्विताः।
न पश्यन्ते च तम्भासं भानुभासमुलूकवत् ॥(102)

जिस प्रकार उल्लू सूर्य की प्रभा को नहीं देख पाते हैं उसी प्रकार दुर्बुद्धि, पापी एवं अपने पाप से उत्पन्न क्रोध से युक्त पुरुष उस कान्तिसमूह को नहीं देख पाते हैं।

तिरथन्ती रवेस्तेजः पूरयन्ति दिशोऽखिलाः।
तत्प्रभा भानवीयेव पूर्व व्याप्नोति भूतलम् ॥(103)

उस कान्ति-समूह में से एक विशेष प्रकार की प्रभा निकलती थी जो सूर्य के तेज को आच्छादित कर रही थी, समरत दिशाओं को पूर्ण कर रही थी और सूर्य की प्रभा के समान पृथिवीतल को पहले से व्याप कर रहीं थी।

तस्याश्वानुपदं याति लोकेशो लोकशान्तये।
लोकानुभ्दासयन् सर्वाननिदीधितिमत्प्रभः ॥(104)

उस प्रभा के पीछे, जो समस्त लोकों को प्रकाशित कर रहे थे तथा जिनकी प्रभा अत्यधिक किरणों से युक्त थी ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र, लोकशान्ति के लिए-संसार में शान्ति का प्रसार करने के लिए विहार कर रहे थे।

एक वर्ष तक चिन्ह से युक्त मार्ग

आसंवत्सरमात्माङ्गैः प्रथयन्प्राभवीं गतिम्।
भासते रत्नवृष्ट्याध्वाभरोत्यैरावतो यथा ॥(105)

जिस मार्ग में भगवान् का विहार होता था वह मार्ग, अपने चिन्हों से

एक वर्ष तक यह प्रकट करता रहता था कि यहाँ भगवान् का विहार हुआ है तथा रत्नवृष्टि से वह मार्ग ऐसा सुशोभित होता था जैसा नक्षत्रों के समूह से ऐरावत हाथी सुशोभित होता है।

अनुबन्धावनिप्रख्यं दिवि मार्गादि दृश्यते ।
त्रिलोकातिशयोद्भूतं तद्वि प्राभवमभ्दुतम् ॥(106)

जिस प्रकार विहार से सम्बन्ध रखने वाली पृथिवी में मार्ग आदि दिखलाई देते हैं उसी प्रकार आकाश से मार्ग आदि दिखाई देते हैं सो ठीक ही हैं क्योंकि तीन लोक के अतिशय से उत्पन्न भगवान् का वह अतिशय ही आश्चर्यकारी था।

शांति उपचय हिंसा अपचय

पटूभवन्ति मन्दाश्व सर्वे हिंस्त्रास्त्वपर्धयः ।
खेदरवेदार्तिचिन्तादि न तेषामरित तत्क्षणे ॥(107)

उस समय मन्द बुद्धि मनुष्य तीक्ष्ण बुद्धि के धारक हो गये थे। समस्त हिंसक जीव प्रभावहीन हो गये थे और भगवान् के समीप रहने वाले लोगों को खेद, पर्सीना, पीड़ा तथा चिन्ता आदि कुछ भी उपद्रव नहीं होता था।

बिहार भूमि में 5 वर्ष तक उपद्रव शून्य-

विहारानुगृहीतायां भूमौ न डमरादयः ।
दशाभ्यस्तयुगं भर्तुरहोऽत्र महिमा महान् ॥(108)

भगवान् के विहार से अनुगृहीत भूमि में दौ सौ योजन तक विप्लव आदि नहीं होते थे। अथवा दश से गुणित युग अर्थात् पचास वर्ष तक उस भूमि में कोई उपद्रव आदि नहीं होते थे। भावार्थ-जिस भूमि में भगवान् का विहार होता था वहाँ 50 वर्ष तक कोई उपद्रव दुर्भिक्ष आदि नहीं होता था। यह भगवान् की बहुत भारी महिमा ही समझनी चाहिए।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीर्थकर के अलौकिक गुणों के बारे में कहा है—
प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवनभूत् ।
मोक्षमार्गमशेषन् नरामरानपि शासन फलैषणाऽत्तुरः ॥(73)

आप रिंहासनादि आठ प्रातिहार्य की विभूति से शृंगारित हो। तथापि शरीर से अपने उपदेश के फल की इच्छा से जरा भी आत्मा न हुए।

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो, नाऽभवंस्तव मुनेश्चकीर्षया ।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो, धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥(74)

आप प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं। आपकी मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ आपको करने की इच्छापूर्वक और न आपकी चेष्टा ये अज्ञानपूर्वक हुई। हे धीर ! आपकी क्रिया का चिंतवन नहीं हों सकता। आपका कार्य अचिंत्य है।

मानुषीं प्रकृतिमध्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ परमाऽसिदेवता, श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥(75)

क्योंकि आपने साधारण मनुष्य के स्वभाव को उल्लंघन कर लिया है तथा जगत के सब देशों में भी आप पूज्य हैं। हे नाथ ! इस कारण से आप सर्वोत्कृष्ट देव हैं। हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! मोक्ष के लिये हम लोगों पर प्रसन्न होइये।

विश्व के अतिशय अद्वितीय तीर्थकर पुण्यकर्म के उदय से तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहंत तीर्थकर भगवान् बनते हैं। आध्यात्मिक प्रमाण के साथ-साथ तीर्थकर पुण्य प्रभाव से संयुक्त तीर्थकर होते हैं। तीर्थकर साक्षात् आध्यात्मिक एवं भौतिक वैभव शक्ति एवं चमत्कार के पुंज स्वरूप होते हैं। चैतन्य शक्ति का पूर्ण विकास उस अवस्था में हो जाता है। तीर्थकर के पुण्य कर्म के प्रभाव, शक्ति एवं चमत्कार सर्वाधिकार होता है। भौतिक शक्ति की चरमसीमा तीर्थकर पुण्यकर्म है। इस प्रकार कहने पर कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आत्मा में जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उसका भी पूर्ण विकास उस अवस्था में हो जाता है। विज्ञ पाठकों को ज्ञात होगा कि आत्मा में जैसे-जैसे अनन्त शक्ति निहित है, उसी प्रकार पुद्गल में भी है। विद्युत्-शक्ति, रेडियो, टी.वी. एटमबम, कम्प्युटर आदि वैज्ञानिक चमत्कार पूर्ण यन्त्र केवल पुद्गल ही हैं। केवल पुद्गल से कितने आश्चर्य पूर्ण कार्य हो सकता है, तब अनन्त शक्ति के पुंज स्वरूप आत्मा एवं पुद्गल के संयोग से तीर्थकर के उपरोक्त अलौकिक चमत्कार पूर्ण अद्वितीय कार्य होने में क्या असम्भव है। जब तक हम द्रव्यों

में निहित अनेक वैचित्र्यपूर्ण अनन्त शक्तियों के बारे में नहीं जानते हैं, तब तक कोई विशेष सत्य घटना को असम्भव अतिरिंजित मानते हैं, परन्तु जब वस्तु स्वरूप को यथार्थ से परिज्ञान करते हैं तब आश्चर्य ही नहीं रहता है।

विशेषतः अल्पज्ञ जड़ बुद्धि वाले मूर्ख संकुचित विचारों वालों के लिये कोई एक सत्य घटना अविश्वसनीय आश्चर्य असम्भव प्रतीत होता है। “ज्ञानीनाम् किम् आश्चर्यम्” अर्थात् ज्ञानियों के लिये कोई सत्य तथ्यपूर्ण घटना आश्चर्यकारी प्रतीत नहीं होती है।

महावीर भगवान् का समोवसरण

वीर प्रभु के केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रभाव से देवलोक में समुद्र की गर्जना को भी जीतने वाला, घण्टाओं से स्वयं उत्पन्न हुआ अद्भूत मधुर नाद हुआ। देवगज अपनी सूँड़ों में कमलों को लेकर और उन्हें आधी ऊपर उठाकर चलते हुए पर्वत के समान स्वर्ग में सानन्द नाचने लगे। देवलोक के कल्पवृक्षों ने पुष्पांजलि के समान पुष्पवृष्टि की। सर्व दिशाएं रज-रहित हो गयी और आकाश निर्मल हो गया। भगवान् की केवल ज्ञान उत्पत्ति के उत्सव में इन्द्रों के गर्व सहने में असमर्थ होकर मानो देवेन्द्रों के सिंहासन सहसा काँपने लगे। सुरेन्द्रों के मुकुट स्वयं ही नमीभूत हो गये। इस प्रकार स्वर्ग में भगवान के केवलोत्पत्ति के सूचक आश्चर्य हुए। इन तथा इसी प्रकार के अन्य चिन्हों से भगवान् के केवलज्ञान के उदय को जानकर इन्द्रगण अपने-अपने आसनों से उठकर हर्षित होते हुए धर्मोत्सुक हो भगवद्-भक्ति से नमीभूत हो गये। उस समय ज्योतिष्क लोक में महान अद्भूत सिंहनाद हुआ। तथा स्वर्ग के समान सिंहासनों का कम्पन आदि सर्व आश्चर्य हुए। भवनवासी देवों के भवनों में शंखों की महाध्वनि हुई और मुकुट नमीभूत होना तथा आसनों का काँपना आदि शेष समस्त आश्चर्य हुए। व्यन्तरों के निलयों में भेरियों का भारी शब्द स्वयं होने लगा और भगवान् के केवलज्ञान की प्राप्ति के सूचक शेष सर्व आश्चर्य हुए। इन सब आश्चर्यों से सर्व देव और इन्द्रगणों ने वीर प्रभु के केवलज्ञानरूप नेत्र को प्राप्त हुआ जानकर ज्ञान

कल्याणक मनाने का विचार किया। तब आदि सौधर्मकल्पका स्वामी शकेन्द्र प्रस्थान-भेरियों को उच्च स्वर से बजाकर सर्व देवों से आवृत हो भगवान् के केवलज्ञान की पूजा के लिए निकला। तब बलाहक नामक आभियोग्य जाति के देव ने जम्बूद्वीप प्रमाण एक लाख योजन विस्तृत, रमणिक मुक्ति मालाओं से शोभित, किंकिणि (छोटी घण्टियों) के शब्दों से मुखरित, तेज से सर्व दिशाओं के मुखों को व्याप करनेवाला, सर्व मनोरथों का पूरक ऐसा नानारत्नमयी बलाहकाकार दिव्य विमान बनाया। उसी समय नागदत्त नाम के आभियोग्य देवों के स्वामी ने एक विशाल ऐरावत हाथी को बनाया, जो उन्नतवंश का था, विशाल कायवाला था, जिसका मर्स्तक गोलाकार और उन्नत था, जो सात्विक प्रकृतिका था, बलशाली था, दिव्य व्यंजन और लक्षणों से युक्त था, तिर्यग्लोक जैसे लम्बे, मोटे, विशाल अनेक करों (शुण्डादण्डों) को धारण करने वाला था, गोल शरीर वाला, महाउत्तुंग, इच्छानुसार गमन करने वाला, इच्छानुसार अनेक रूप बनानेवाला था। जिसका सुगन्धित दीर्घ श्वासोच्छ्वास था, दीर्घ ओठ थे, दुन्दुभि के समान शब्द करने वाला था, रमणीक था, जिसके दोनों कानों पर चामर शोभित हो रहे थे, जिसके दोनों ओर महाघण्टा लटक रहे थे, जिसके गले में सुन्दरमाला अंकित थी, नक्षत्रमाला की शोभा से युक्त था, सुवर्णमयी सिंहासन से शोभित था, जम्बूद्वीप प्रमाण विस्तृत था, दैदीप्यमान था, अपने श्वेत वर्ण से समस्त दिशाओं के मुखों को श्वेत कर रहा था, मद झरने से जिसका सर्व अंग लिप्त था जो चलते हुए पर्वत के समान ज्ञात होता था, ऐसा विक्रियात्रद्विमय ऐरावत नामक ओजस्वी नागेन्द्र को उसने अपनी विक्रिया त्रद्विसे बनाया।

उस ऐरावत गज के बत्तीस मुख थे, एक-एक मुख में आठ-आठ दन्त थे, एक-एक दन्त के प्रति जल से पूर्ण एक-एक सरोवर था, एक-एक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस कमल खिल रहे थे, प्रत्येक कमल में बत्तीस रमणीक पत्र थे, उन विस्तृत पत्रों पर दिव्यरूप धारिणी मनोहर लय के साथ स्मितमुख और ललित भुकुटि वाली, मृदङ्ग, गीत, ताल आदि के साथ, विक्रियामय अंगों से रस-पूरित बत्तीस-बत्तीस देव-नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं। इत्यादि वर्णन से युक्त उस गजराज पर

इन्द्राणी के साथ बैठा अपने शरीर के भूषणों की किरणों से और विभूति से तेजों के निधान के समान श्री वर्धमान स्वामी के केवलज्ञान की पूजा के हेतु जाता हुआ वह अतिपुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहा था। प्रतीन्द्र भी अपने वाहन पर आरुढ़ होकर अपने परिवार से संयुक्त हो महाविभूति और महाभक्ति से सौधर्मेन्द्र के साथ निकला। जो आज्ञा और ऐश्वर्य के सिवाय शेष सब गुणों में इन्द्र के समान हैं, ऐसे चौरासी हजार सामानिक देव भी हर्ष से निकले। पुरोहित, मन्त्री और अमात्यों के समान तैनीस त्रायस्त्रिंश देव भी पुण्य-प्राप्ति के लिए इन्द्र के समीप आये। बारह हजार देवों से युक्त अभ्यन्तर परिषद, चौदह हजार देवों से संयुक्त, मध्यम परिषद् और सोलह हजार देवों सहित बाह्य परिषद् ने आकर उस सुरेन्द्र सौधर्मेन्द्र को घर लिया अर्थात् तीनों सभाओं के उक्त संख्यावाले सभी देव ज्ञान कल्याणक की पूजा करने के लिए सौधर्मेन्द्र से समीप आये। शिरोरक्षक के समान तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव उसी समय सौधर्मेन्द्र के समीप आये। दुर्गापाल के समान लोकान्त तक स्वर्ग की पालना करने वाले लोकपाल देव भी अपने परिवार के साथ सर्व दिशाओं को मणिडत करते हुए उसको चारों और से घेरकर आ खड़े हुए। इन्द्र की प्रथम वृषभसेना के चौरासी लाख दिव्यरूप के धारक उत्तम बैल, इन्द्र के आगे चलने लगे। इनसे दूने बैल वृषभों की दूसरी सेना में थे, उनसे दूने बैल वृषभों की तीसरी सेना में थे। इस प्रकार सातवीं वृषभसेना तक दूने-दूने प्रमाणवाले, नाना वर्णों के धारक सुन्दर बैल इन्द्र के आगे चलने लगे। बैलों की सातों सेनाओं की संख्या के समान ही प्रमाणवाली घोड़ों की सात सेनाएँ उनके पीछे-पीछे चलीं। उनके पीछे मणिमयी दीप्तियुक्त रथ, पर्वत के समान विशालगज, उद्यम के साथ चलने वाले शीघ्रगामी पैदल सैनिक दिव्य कंठ वाले और श्री जिनोत्सव के गीत गाने वाले गन्धर्व और जिनेन्द्र सम्बंधी गीत-वाद्यों के साथ नाचती हुई देव-नर्तकियाँ ये सब क्रम से अपनी अपनी उक्त संख्यावाली सात-सात कक्षाओं के साथ आगे-आगे चलने लगे। पुरोवासी लोगों के सदृश असंख्यात प्रकीर्णक देव, दास के समान कार्य करने वाले आभियोग्य जाति के देव और प्रजा से बाहर रहने वाले बहुत से किलिविषिक देव भक्ति से सौधर्मेन्द्र के

साथ उस महोत्सव में आगे आगे चल रहे थे। धर्मबुद्धिवाला ऐशानेन्द्र भी भक्ति के साथ उस अपनी विभूति से युक्त होकर अश्व वाहन पर आरुढ़ हो सौधर्मेन्द्र के साथ निकला। मृगराज (सिंह) के वाहन पर चढ़कर सनत्कुमारेन्द्र और दिव्य वृषभ पर चढ़कर माहेन्द्र भी सर्व सामग्री के साथ निकला। कान्तियुक्त सारस पर आरुढ़ होकर देवों से धिरा हुआ ब्रह्मेन्द्र, हंसवाहन पर आरुढ़ होकर महर्द्धिक लान्तवेन्द्र, दीप शरीर वाले गरुड पर आरुढ़ और देवों से धिरा हुआ शुकेन्द्र भी अपने सामानिकादि देवों से तथा देवियों से युक्त होकर भगवान् की पूजा के लिए निकले। अपने आभियोग्य देव से निर्मित मयूर वाहन पर चढ़कर शतारेन्द्र भी अपने देव और देवी परिवार के साथ निकला। आनंदेन्द्र आदि शेष चार कल्पों के स्वामी इन्द्र भी अपने-अपने देव परिवारों के साथ पुष्पक विमान पर आरुढ़ होकर भगवान् के ज्ञानकल्याणक के लिए निकले। इस प्रकार बारह कल्पों के इन्द्र अपने बारहों प्रतीन्द्रों से संयुक्त होकर अपनी-अपनी विभूति के साथ अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर भेरी आदि के महानादों से समस्त दिशाओं को पूरित करते, अपने भूषणों की कान्तिपूंज से आकाश में इन्द्रधनुष की शोभा को विस्तारते, कोटिकोटि ध्वजा और छत्रों से नभोभाग को आच्छादित करते, 'जय-जीवो' आदि शब्द-समूहों से दिशाओं को बधिर करते स्वर्ग से धीरे-धीरे उत्तरकर गीत नृत्य वादित्र आदि के साथ सैकड़ों उत्सवों को करते हुए ज्योतिषी देवों के पटल को प्राप्त हुए। तब ज्योतिष्क पटल के सभी असंख्यात चन्द्र, सूर्य, गृह, नक्षत्र और तारागण अपनी-अपनी विभूति से मणिडत होकर धर्मानुराग के रस से व्याप्त हो, अपनी-अपनी देवियों से युक्त हो जिनकल्याण की सिद्धि के लिए उक्त कल्पवासी देवों के साथ भूतल की ओर चले। उसी समय असुर कुमारादि दश जाति के भवनवासी देवों के (1) चमर, (2) वैरोचन, (3) भूतेश, (4) धरणानन्द, (5) वेणुदेव, (6) वेणुधारी, (7) पूर्ण, (8) अवशिष्ट, (9) जलप्रभ, (10) जलकान्ति, (11) हरिषण, (12) हरिकान्त, (13) अग्निशिखी, (14) अग्निवाहन, (15) अमितगति, (16) अमि तवाहन, (17) घोष, (18) महाघोष, (19) वेलंजन और (20) प्रभंजनये बीस इन्द्र और बीस ही उनके प्रतीन्द्र अपनी-अपनी विभूति, वाहनों से तथा

अपनी-अपनी देवियों से संयुक्त होकर भूमि को भेदनकर भगवान् की पूजा के लिए इस महीतल पर आये। उसी समय किन्नर आदि आठों जाति के व्यन्तर देवों के (1) किन्नर, (2) किम्पुरुष, (3) सत्पुरुष, (4) महापुरुष, (5) अतिकाय, (6) महाकाय, (7) गीतरति, (8) रतिकीर्ति (गीतयश), (9) मणिभद्र, (10) पूर्णभद्र, (11) भीम, (12) महाभीम, (13) सरुप, (14) प्रतिरूप, (15) काल और (16) महाकाल ये सोलहों प्रतीन्द्रों के साथ अपने-अपने वाहनों पर आरुढ़ होकर अपनी-अपनी परम सामग्री से भूषित और अपने-अपने देव-देवी परिवार से आवृत्त होकर भूभाग को भेदन करके ज्ञान कल्याणक करने के लिए इस भूतल पर आये। ये चारों देवनिकायों के स्वामी, अपनी इन्द्राणियों और देवों से भूषित, निमेष-रहित उत्तम नेत्रों के धारक, परम आनन्दशाली, कर-कमलों को जोड़े, जय, नन्द आदि मांगलिक शब्दों को बोलते श्री वीर प्रभु को देखने के लिए उत्सुक अतएव शीघ्र गमन करते हुए यहाँ पर आये। और उन्होंने समस्त ऋद्धियों से परिपूर्ण, रत्न किरणों से दिङ्मुख को व्याप करने वाले, दैदीप्यमान ऐसे भगवान् के समवसरण मण्डल को दूर से देखा।

कुबेर आदि महाशिल्पियों के द्वारा निर्मित जगदगुरु के उस समवसरण की रचना को कहने के लिए गणधर देव को छोड़कर और कौन समर्थ हो सकता है। तो भी भव्य जीवों के धर्म-प्रेम की सिद्धि के लिए अपनी शक्ति के अनुसार उस समवसरण का कुछ वर्णन करता हूँ। वह समवसरण गोलाकार एक योजन विस्तार वाला था, उसका प्रथमपीठ उत्तम इन्द्रनीलमणियों से रचा गया था, अतः वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था। हे भव्यों, वह बीस हजार मणिमयी सोपानों (सीढियों) से विराजित था और भूतल से अद्वाई कोश ऊपर आकाश में अवस्थित था। उसके किनारे के भूभाग के सर्व ओर अतिदीप्मान, रत्नधूलि से निर्मित विशाल धूलिशाल नामका पहला परकोटा था। वहाँ कहीं पर विद्मु (मूंगा) की सुन्दर कान्तिवाला था, कहीं सुवर्ण आभावाला था, कहीं अंजन पुंज के समान काली आभावाला था और कहीं पर शुक (तोता) के पंखों के समान हरे रंगवाला था। कहीं पर नाना प्रकार के रत्न और सुवर्णोत्पन्न धूलि के तेज-पुंज से आकाश में इन्द्रधनुषों की

शोभा को विस्तारता अथवा हँसता हुआ शोभित हो रहा था। उसकी चारों दिशाओं में दीपि-युक्त सुवर्णस्तम्भों के अग्रभाग पर मकराकृति मणिमालावाले चार तोरणद्वारा सुशोभित हो रहे थे। उसके भीतर कुछ दूर चलकर वीथियों की मध्य भूमि में पूजन-सामग्री से पवित्रित चार वेदियों थीं। वे चार गोपुरद्वारों से संयुक्त, तीन प्राकारों (कोटों) से वेष्टित, सुवर्णमयी सोलह सीढियों से भूषित, दैदीप्यमान और मन को हरण करने वाली थीं। उन वेदियों के मध्यभाग में जिनेन्द्रदेव की प्रतिमासहित, मणियों की कान्ति और पूजनसामग्री से युक्त चार ऊँचे पीठ (सिंहासन) शोभायमान थे। उन पीठों के मध्य में चार और छोटे पीठ थे जो उत्तम शोभा से, मणियों की कान्ति से और दिव्य तीन मेखला-(कटिनी) युक्त शोभित हो रहे थे। उनके मध्य में चमचमाते सुवर्ण से निर्मित, मध्यभाग में जिनप्रतिमा से युक्त, शिखर पर तीन छत्रों से शोभित, ध्वजा, घण्टा आदि से युक्त, उन्नत, मिथ्यादृष्टियों के मान-खण्डन से सार्थक नामवाले चारों दिशाओं की वेदियों पर चार मानस्तम्भ थे, जिनके समीप देव-देवांगनाएँ गीत-नृत्य करती हुई चामर ढोर रही थीं।

उन मानस्तम्भों के समीप वाली भूमि पर चारों दिशा में मणिमयी सीढियों से मनोहर, जलभरी और कमलों से युक्त ऐसी चार वापियाँ थीं। उन वापियों के नन्दा, नन्दोत्तरा आदि नाम थे वे अपने जल-तरंगरूपी हाथों से नाचती हुई सी और कमलों पर भौंरों की गुंजार से गाती हुई के समान अत्यन्त शोभित हो रही थीं। उन वापियों के किनारों पर जल से भरे हुए कुण्ड विद्यमान थे, जो भगवान् की वन्दना-यात्रा के लिए आने वाले भव्य जीवों के पादप्रक्षालन के लिए बनाये गये थे। वहाँ से थोड़ी दूर आगे चलकर वीथी (गली) थी और वीथी-धरा को घेरकर अवस्थित जल से भरी, कमलों के समूहों और भौंरों से व्याप खाई थी। वह खाई पवन के आधात से उत्पन्न हुई तंराओं से और तरंग-जनित शब्दों से भगवान् के ज्ञान कल्याणक के महोत्सव में नृत्य करती और गाती हुई-सी शोभित हो रही थी। उसके भीतर के भूभाग को उत्तम लताओं का वन घेरे हुए था और वह लतावन अनेक प्रकार की वेलों, गुल्मों और वृक्षों में लगे हुए सर्व ऋतुओं के फूलों से संयुक्त था वहाँ पर रमणीक अनेक क्रीड़ा करने के पर्वत थे, जो उत्तम शय्याओं से, लता

मण्डपों सें और पुष्प-समूह से व्याप्त थे और जो देवांगनाओं के क्रीड़ा-कौतुहल एवं विश्राम के लिए बनाये गये थे। उन पर्वतों पर लताभवनों के भीतर देवेन्द्रों के विश्राम के लिए शीतल और मनोहर चन्द्रकान्तमयी शिलाएँ रखी हुई थीं। उन पर्वतों पर अशोक आदि के ऊँचे महावृक्षों से और उनके पुष्पों पर भौंरों की गुंजारों से युक्त फलशाली, अतीव सुन्दर प्रियवन शोभायमान था। उसके आगे कुछ दूर चलकर महीतल को धेरे हुए सुवर्णमयी महान् उन्नत् प्रथम प्राकार था। उस प्राकार के ऊपर, नीचे और मध्यभाग में मोती लगे हुए थे, जिनके द्वारा शोभायुक्त वह मनोहर प्राकार ताराओं की परम्परा की शंका को धारण कर रहा था। वह प्राकार कहीं पर विद्वुम की कान्ति से युक्त था, कहीं पर नवीन मेघ की छवि को धारण कर रहा था, कहीं पर इन्द्रगोप-जैसी लाल शोभा से युक्त था और कहीं पर इन्द्रनील मणि की नीली कान्ति को धारण कर रहा था। कहीं पर नाना प्रकार के रत्नों की किरणों से महान् इन्द्रधनुष की शोभा को विस्तार रहा था और कहीं पर अनेक वर्ण वाले रत्नों की किरणों से युक्त आदि प्राणियों, मनुष्यों और मयूरों के जोड़ो से, तथा वेलों के समूहों से हँसते हुए के समान शोभायमान था। इस प्रकार की चारों दिशाओं में तीन भूमियों (खण्डों) वाले विशाल रजतमयी चार गोपुर शोभित थे, जो अपने तेज से हँसते हुए के समान प्रतीत हो रहे थे। वे गोपुर पद्मरागमयी, ऊँचे आकाश को उल्लंघन करने वाले शिखरों से ऐसे शोभित हो रहे थे मानो महामेरु के उन्नत शिखर ही हों। उन शिखरों पर कितने ही गन्धर्व देव तीर्थेश्वर के गुणों को गा रहे थे, कितने ही उन गुणों को सुन रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे और कितने ही तीर्थकर देव की आराधना कर रहे थे। प्रत्येक गोपुर पर भूज्ञार, कलश, दर्पण आदि आठों जाति के मंगलद्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ की संख्या में विराजमान थे। प्रत्येक गोपुर द्वार पर नाना प्रकार के रत्नों की कान्ति से गगनांगण को चित्र-विचित्र करने वाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे। उन तोरणों में लगे हुए आभूषण ऐसे प्रतीत थे, मानो स्वभाव से ही प्रकाशमान प्रभु के शरीर में रहने के लिए अवकाश को न पाकर वे अब तोरणों को व्याप्त करके अवस्थित हैं। उन द्वारों के समीप रखी हुई शंख आदि नवों निधियाँ ऐसी

जान पड़ती थी मानों जिनेन्द्र देव के द्वारा वैराग्य से तिरस्कृत होकर द्वार पर ही ठहरकर भगवान् की सेवा कर रही हैं। इन गोपुर द्वारों के भीतर एक-एक महावीथी थी, जिसके दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएँ थी। इस प्रकार चारों दिशाओं में दो-दो महानाट्य शालाएँ थी। तीन भूमियों (खण्डों) से युक्त, ऊँचे ये नाट्यमण्डप ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो सज्जनों को मुक्ति का रत्नत्रय स्वरूप त्रिधात्मक मार्ग कहने के लिए उद्यत हैं। उन नाट्यमण्डपों के विशाल स्तम्भ सुवर्णमयी थे, उनकी भित्तियाँ निर्मल स्फटिक मणिमयी थी। उन मण्डपों के भीतर उत्तम अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और कितने ही दिव्यकण्ठवाले गन्धर्व भगवान् के कैवल्य प्राप्ति से उत्पन्न हुए गुणों को गा रहे थे। उन वीथियों के दोनों दिशाओं में दो-दो धूपघट थे, जिनके धूप की सुगन्धी को विस्तारवाले धुएँ के द्वारा गगनांगण सुगन्धित हो रहा था। उसके आगे कुछ दूर चलकर वीथियों के मध्य में चार वनवीथियाँ थी, जो सर्व ऋतु के फल-फूलों से युक्त दूसरे नन्दनादि वनों के समान मालूम पड़ती थी। उन वनवीथियों में अशोक, सप्तपूर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षों के वन थे, जो कि अति उन्नत वृक्षसमूहों से शोभित हो रहे थे। उन वनों के मध्यभाग में जल से भरी हुई वाँपियाँ थी और कहीं पर त्रिकोन और चतुष्कोनवाली पुष्करिणियाँ थी। उन वनों में कहीं पर उन्नत शोभायुक्त चित्र शालाएँ थी। कहीं पर क्रीड़ास्थल थे और कहीं पर कृत्रिम पर्वत थे। वहाँ अशोकवन के बीच में अशोक नाम का चैत्यवृक्ष था, जिसका पीठरम्य, सुवर्णमयी तीन मेखलाओं वाला था और वह चैत्यवृक्ष बहुत ऊँचा था। चैत्यवृक्ष तीन शालों (कोटों) से वेणित था, प्रत्येक शाल में चार-चार गोपुरद्वार थे। वह चैत्यवृक्ष तीन छत्रों से युक्त था और जिसके शिखर पर शब्द करता हुआ अतिसुन्दर घण्टा अवस्थित था। वह चैत्यवृक्ष ध्वजा, चामर आदि मंगल द्रव्यों से और श्री जिनदेव की प्रतिमा आदि से युक्त था, देवगण जहाँ पर पूजन कर रहे थे और वह जम्बूवृक्ष के समान उन्नत था। इस चैत्यवृक्ष के उपर चारों दिशाओं में दीसि युक्त श्री जिनमूर्तियाँ थी, जहाँ पर आकर अपने पुण्योपार्जन के लिए देवेन्द्र महान् द्रव्यों से उनकी पूजा कर रहे थे। इसी प्रकार शेष वनों में भी देवों से पूजित, छत्र चामर और अर्हतप्रतिमाओं से युक्त रमणीय

समपूर्णादि चैत्यवृक्ष थे। माला, शुक, मयूर, कमल, हँस, गरुड़, सिंह, वृषभ, हाथी और चक्र इन दश चिन्हों की धारक दिव्य रूपवाली ऊँची ध्वजाएँ फहराती हुई ऐसी ज्ञात होती थी मानो शत्रु को जीत लेने से उपार्जित प्रभु के तीन लोक के ऐश्वर्य को एकत्रित करने के लिए उद्यत हुई हों।

एक-एक दिशा में प्रत्येक चिन्ह वाली एक सौ आठ रमणीय ध्वजाएँ जानना चाहिए। वे ऐसी प्रतीत होती थी, मानो आकाशरूप समुद्र की तरंगें ही हो। उन ध्वजाओं के पवन से हिलते और चारों और धूमते हुए वस्त्र ऐसे मालुम होते थे मानो जिनराज के पूजन के लिए जगत् के जनों को बुला ही रहे हों। उन दश चिन्हवाली ध्वजाओं में से माला चिन्हवाली ध्वजाओं में रमणीक फूलों की मालाएँ लटक रही थीं। वस्त्र चिन्हवाली ध्वजाओं में सूक्ष्म विकने वस्त्र लटक रहे थे। इसी प्रकार मयूर आदि चिन्हवाली ध्वजाओं में देव-शिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर मूर्ति वाले मयूर आदि शोभित हो रहे थे। वे ध्वजाएँ एक-एक दिशा में एक हजार अस्सी (1080) थीं और चारों दिशाओं की मिलाकर चार हजार तीन सौ बीस (4320) थीं। उससे आगे चलकर भीतरी भू भाग में चाँदी से बना हुआ, लक्ष्मीयुक्त दूसरा महान शाल (कोट) था, जिसका वर्णन प्रथम शाल के समान ही जानना चाहिए। इस शाल में भी पूर्वशाल के समान ही रजतमयी गोपुरद्वार थे और वहाँ पर आभूषणों से युक्त बड़े-बड़े तोरण थे। यहाँ पर भी पूर्व के समान नवनिधियाँ, अष्ट प्रकार के मंगलद्रव्य, दो-दो नाट्यशालाएँ और दो-दो धूपघट महावीथी के दोनों ओर थे। उन दोनों नाट्यशालाओं में गीत नृत्य आदि तथा शेष समस्त विधि भी प्रथम शाल के समान जानना चाहिए। इससे आगे वीर्थी के अन्तराल में नाना प्रकार के रत्नों की प्रभा से शोभित कल्पवृक्षों का एक दैदीप्यमान वन था। जिसमें दिव्य माला, वस्त्र, आभूषण आदि की सम्पदा से युक्त ऊँचे फलवाले और उत्तमछाया वाले रमणीक कल्पवृक्ष शोभायमान हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा ज्ञात होता था मानों देवकुरु और उत्तरकुरु ही अपने दश जाति के कल्पवृक्षों के साथ भगवान् की सेवा करने के लिए यहाँ पर आये हैं। उन कल्पवृक्षों के फल आभूषणों के समान, पत्ते वस्त्रों के समान

और शाखाओं के अग्र भाग पर लटकती हुई दैदीप्यमान मालाएँ वट-वृक्ष की जटाओं के समान प्रतीत होती थीं। इन कल्पवृक्षों में से ज्योतिरंग कल्पवृक्षों के नीचे ज्योतिष्क देव, दीपांग कल्पवृक्षों के नीचे कल्पवासी देव और मालांग कल्पवृक्षों के नीचे भवनवासी इन्द्र क्रीड़ा करते हुए विश्राम कर रहे थे। इन कल्पवृक्षों के वन के मध्य में दिव्य सिद्धार्थ वृक्ष थे, जो कि सिद्ध प्रतिमाओं से अधिष्ठित और छत्र-चामरादि विभूति से विराजित थे। पूर्व में जो चैत्यवृक्षों का वर्णन किया गया है वह इन सिद्धार्थ वृक्षों में भी समझना चाहिए किन्तु ये कल्पवृक्ष संकल्पित सभी उत्तम भोगों को देने वाले थे। इन कल्पवृक्षों के वनों के चारों और एक रमणीक वनवेदिका थी जो कि सुवर्ण-निर्मित, रत्नों से जड़ी हुई और अति प्रभायुक्त थी। उस वनवेदिका में मोतियों की लटकती हुई मालाओं के पुंज से और लटकते हुए घण्टा-समूह से युक्त रजतमयी चार उत्तम गोपुरद्वार थे। वे सब संगीत, वादित्र और नृत्यों से, पुष्पमाला आदि अष्टमंगलद्रव्यों से, ऊँचे शिंखरों से तथा दैदीप्यमान रत्नों के आभूषण वाले तोरणों से शोभित थे। उससे आगे वीर्थी के अन्तराल में सोने के स्तम्भों के अग्रभाग पर फहराती हुई अनेक प्रकार की ध्वजा-पक्तियाँ वहाँ की श्रेष्ठ भूमि को अलंकृत कर रही थीं। मणिमयी पीठों पर उपस्थित वे ध्वजस्तम्भ अपनी उन्नत शोभा से ऐसे शोभित हो रहे थे, मानों स्वामी पर विजय की महिमा को पुरुषों से कहने के लिए ही उद्यत हो रहे हैं। उन ध्वजास्तम्भों की मोटाई (88) अंगुल और स्तम्भों का पारस्परिक अन्तराल पच्चीस (25) धनुष गणधरों ने बताया है। समवसरण में स्थित सर्व मानस्तम्भ, ध्वजास्तम्भ, सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण सहित प्राकार और वनवेदिकाएँ तीर्थकर के शरीर की ऊँचाई से बारह गुनी ऊँचाई वाली कही गयी हैं। इनका आयाम और विस्तार ज्ञानियों को इनके योग्य जान लेना चाहिए। समवसरण में स्थित वनों की, सर्व भवनों की तथा पर्वतों की ऊँचाई भी इतनी ही द्वादशांग श्रुतसागर के पारगामी गणधर देवों ने कही है। पर्वत अपनी ऊँचाई से आठ गुणित विस्तीर्ण हैं और स्तूपों की मोटाई उनकी ऊँचाई से निश्चयतः कुछ अधिक है। विश्वतत्वों के ज्ञाता, देवपूजित गणधरदेव वनवेदिकादि की चौड़ाई ऊँचाई से चौथाई कहते हैं। इस वन के मध्य में

कहीं नदियाँ, कहीं वापियाँ, कहीं सिकता-(बालुका) मण्डल और कहीं पर सभागृह आदि थे। इस वनवीथी को घेरे हुए सुवर्णमयी, उन्नत और चार गोपुरद्वारों से भूषित वनवेदिका थी। इसके तोरणद्वार, मांगलिक द्रव्य, आभूषण सम्पदा और गीत-नृत्य-वादित्रादि की शोभा पूर्वोक्त वर्णन के समान ही जाननी चाहिए।

इसके पश्चात् इस प्रतोली को उल्लंघन करके उससे आगे सर्व ओर एक और वीथी थी जो देव-शिल्पियों से निर्मित नाना प्रकार के प्रासाद-(भवन) पंक्तियों से शोभित हो रही थी। उन प्रासादों के सुवर्णमयी महास्तम्भ थे, उनका वज्रमय अधिष्ठान बन्धन था, चन्द्रकान्तमणिमयी शिलावाली उनकी दिव्य भित्तियाँ थीं और वे नाना प्रकार की मणियों से जड़ी हुई थीं। उस प्रासाद पंक्ति में कितने ही भवन दो खण्डवाले, कितने ही तीन खण्डवाले और कितने ही चार खण्डवाले थे। कितने ही चन्द्रशाला (छत) से युक्त थे और कितने ही वलभी (छज्जा और गेलरी) से शोभित थे। दैदीप्यमान, ऊँचे कूटाग्रों से शोभित, अपने तेजकान्तिरूपी समुद्र के मध्य में अवस्थित वे प्रासाद ऐसे शोभा दे रहे थे, मानों चन्द्र की चन्द्रिका से ही निर्मित हुए हो। वे प्रासाद कूटागार, सभागृह, प्रेक्षणशाला, शश्या और आसनों से युक्त एवं उत्तुंग थे। उनके सोपान अपनी धवलिमा से आकाश को धवलित कर रहे थे। उनमें गन्धर्व, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पञ्चगदेव, तथा विद्याधर किन्नरों के साथ सदा क्रीड़ा कर रहे थे। उनमें से कितने ही गीत-गायनों से, कितने ही वादित्र बजाने से, कितने ही नृत्यों से और कितने ही धर्मगोष्ठी आदि के द्वारा जिनभगवान् की आराधना कर रहे थे। उन वीथियों के मध्य भू भाग में पद्मराग मणिमयी, नौ ऊँचे स्तूप थे जो सिद्ध और अरहन्तदेव की प्रतिमाओं के समूह से युक्त थे। इन स्तूपों के अन्तराल में नभोभाग को चित्र-विचित्र करने वाली मणिमयी तोरण मलिकाएँ इन्द्रधनुष के समान शोभित हो रही थीं। वे अर्हन्त-सिद्धों की प्रतिमासमूह से, ध्वजा-छत्रादि सर्व सम्पदा से और अपने तेज से धर्म मूर्तियों के समान शोभायमान हो रही थीं। वहाँ पर जाकर भव्य जीव उन उत्तम प्रतिमाओं का अभिषेक कर, पूजन कर, प्रदक्षिणा देकर और स्तुति करके उत्तम धर्म का उपार्जन कर रहे थे। इस

स्तूप और प्रासादों की पंक्ति से व्याप वीथीवाली भूमि का उल्लंघन कर उससे कुछ आगे अपनी स्फुरायमान शुभ्र ज्योत्सना से दिग्भाग को आलोकित करने वाला, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणिमयी एक शाल (प्राकार) था। इस शाल के पद्मरागमणिमयी, ऊँचे दिव्य गोपुरद्वार शोभित हो रहे थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो भव्य जीवों का धर्मानुराग ही एकत्रित हो गया है। यहाँ पर भी पूर्व के समान ही मंगलद्रव्यसम्पदा, आभूषणयुक्त तोरण, नवों निधियाँ और गीत वादित्र-नर्तन आदि सब साज-बाज थे। प्रत्येक गोपुर द्वार पर चामर, तालवृन्त, दर्पण, ध्वजा और छत्रों के साथ प्रकाशमान सुप्रतिष्ठित, भृंगार और कलश ये अष्ट मंगलद्रव्य शोभित हो रहे थे।

उक्त तीनों ही शालों के द्वारों पर गदा आदि को हाथों में लिए हुए व्यन्तर, भवनवासी और कल्पवासी देव क्रम से द्वारपाल बनकर खड़े हुए थे। वहाँ पर उक्त स्वच्छ स्फटिक मणिमयी शाल से लेकर पीठ-पर्यन्त लम्बी, चारों महाविधियों के अन्तराल के आश्रित सोलह भित्तियाँ थीं।

उन स्फटिकमणिमयी भित्तियों के शिखर पर रत्नमयी स्तम्भों से उठाया हुआ, निर्मल रत्न-निर्मित, उत्तंग श्री मण्डप था। वह सत्यार्थ में श्रीमण्डप ही था, क्योंकि यह तीन जगत् की सर्वोत्कृष्ट श्री (लक्ष्मी) से भरपूर था और जहाँ पर आकर भव्यजीव अर्हन्तदेव की दिव्य ध्वनि से स्वर्ग और मोक्ष की श्री को प्राप्त करते थे। उस श्रीमण्डप के मध्य में ऊँची प्रथम पीठिका अति शोभित हो रही थी, जो कि वैद्युर्यरत्नों से निर्माण की गयी थी और अपने तेज से सर्व दिशाओं के मुखों को व्याप्त कर रही थी।

उस प्रथम पीठिका के सर्व और सोलह अन्तराल-युक्त सोलह सोपान मार्ग थे। जिनमें से चार सोपानमार्ग तो चारों दिशाओं में थे और बारह सोपानमार्ग बारह बोठों के प्रवेशद्वारों की ओर फैले हुए थे।

इस प्रथम पीठिका को आठों मंगलद्रव्य अलंकृत कर रहे थे और यक्षदेव अपने मस्तकों पर धर्मचक्रों को धारण किये हुए खड़े थे। वे धर्मचक्र एक-एक हजार अरेवाले थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानों अपनी किरणरूप वचन-समूह से जगत् के सज्जनों को धर्म का स्वरूप ही कह रहे हों, अथवा

जिनेन्द्र देव के आश्रय से हँस ही रहे हों।

इस प्रथम पीठ के ऊपर हिरण्यमयी अति उन्नत द्वितीय पीठ था, जो अपनी कान्ति से चन्द्रमण्डल को जीत रहा था। इस दूसरे पीठ के उपरितल पर चक्र, गजराज, वृषभ, कमल, दिव्यांशुक, सिंह, गरुड़ और मालाकी आठ मनोहर ऊँची ध्वजाएँ आठों दिशाओं में शोभायमान हो रही थीं, जो अपने प्रदीप आकारों से सिद्धों के आठ गुणों के सदृश प्रतीत हो रही थीं। इस द्वितीय पीठ के ऊपर अपनी स्फुरायमान रत्नकिरणों के द्वारा अन्धकार के समूह को विघ्वस्त करने वाला, सर्वरत्नमयी तेजस्वी तृतीय पीठ था। यह परम पीठ अपनी उज्ज्वल किरणों के द्वारा और अनेक मांगलिक सम्पदा से देवों के तेजों को जीतकर हँसता हुआ शोभित हो रहा था। इस तीसरे पीठ के ऊपर कुबेरराज ने जगत् में सारभूत उत्कृष्ट गन्धकुटी नामकी पृथ्वी को रचा था जो कि अद्भुत तेजोमूर्ति के समान थी।

वह दिव्य सुगन्धीवाले धूपों से और नाना प्रकार के पुष्पों की वर्षा से गगनांगण को सुगन्धित करती हुई अपनी 'गन्धकुटी' नाम सार्थक कर रही थी। यक्षराज ने उस गन्धकुटी की दिव्य रचना नाना प्रकार के आभरण-विन्यासों से, उपमा-रहित मुकाजालों से, सुवर्ण जालों से, स्थूल, स्फुरायमान और अन्धकार-विनाशक रत्नों से की थी, उसकी शोभा का वर्णन करने के लिए श्री गणधरदेव के बिना और कौन बुद्धिमान् समर्थ है।

उस गन्धकुटी के मध्य में यक्षराज ने अनमोल उत्कृष्ट मणियों से भूषित, अपनी प्रभा से सूर्य की प्रभा को जीतने वाला, सुवर्णमयी दिव्य सिंहासन बनाया था। उस सिंहासन को कोटिसूर्या की प्रभा से अधिक प्रभावाले और तीनलोक के भव्यजीवों से पेण्ठि श्री महावीर प्रभु अलंकृत कर रहे थे।

उस पर अनन्त महिमाशाली विश्व के सर्वप्राणियों के उद्धार करने में समर्थ और अपनी महिमा से सिंहासन के तलभाग को चार अंगुलों से नहीं स्पर्श करते हुए भगवान् अन्तरिक्ष में विराजमान थे।

विश्वधर्म सभा का संक्षिप्त परिचय

समवादि समापादि शरणं शरणं क्षणात्।
त्रिजगत्प्राणिनां देवैः पाकशासनशासनात्॥(1)
(हरिवंशपुराण पृ.646)

देवों ने इन्द्र की आङ्गा से क्षण-भर में तीन जगत् के जीवों के लिए शरणभूत समवसरण की रचना कर दी।

समवसरण की दिव्य भूमि स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है। यह भूमि अपनी शोभा से स्वर्गलक्ष्मी को जीतने वाली, चौकोर, सुखदायी, और देशकाल के अनुसार बारह योजन से लेकर एक योजन तक विस्तार वाली होती है। भावार्थ-समवसरण भूमिका उत्कृष्ट विस्तार बारह योजन और कम से कम विस्तार एक योजन प्रमाण होता है। यह भूमि कमल के आकार की होती है इसमें गन्धकुटी तो कर्णिका के समान ऊँची उठी होती है और बाह्य भूमि कमलदल के समान विस्तृत है। यह इन्द्रनीलमणि से निर्मित होती है, इसका बाह्य भाग दर्पणतल के समान निर्मल होता है और प्रवेश करने वाले बहुत से जीवों को एक साथ एक स्थान देने वाली रहती है। जिसमें मान के योग्य इन्द्र आदि देव त्रिलोकीनाथ भगवान् की दूर से ही पूजा करते हैं वह मानांगण नामकी भूमि है। इस भूमि की चारों महादिशाओं में दो-दो कोस विस्तृत चार महावीथियाँ हैं। ये वीथियाँ अपने मध्य में स्थित चार मानस्तम्भों के पीठ धारण करती हैं। ये पीठ अपनी ऊँचाई से तिगुने चौड़े एवं सुवर्ण और रत्नमयी मूर्तियों के धारक होते हैं तथा मनुष्य, सुर, असुर सभी आकर इन्हें नमस्कार करते हैं। जहाँ स्थित होकर मनुष्य और देव, मानस्तम्भों की पूजा करते हैं वह आस्थानांगणा नाम की भूमि दैदीप्यमान लाल मणियों की कान्ति को धारण करती है। वीथियों के मध्य में तीन कटनीदार चार सुवर्णमयी पीठिकाएँ हैं जो छाती बराबर ऊँची हैं और आधा कोस चौड़ी हैं।

मानस्तम्भ-

उन पीठिकाओं पर चार मानस्तम्भ सुशोभित हैं जो पीठिकाओं की चौड़ाई से एक धनुष कम चौड़े हैं और एक योजन से कुछ अधिक ऊचे हैं।

**द्विषड्योजनद्वयारत्ते पालिकास्याम्बुजस्थिताः ।
वज्रस्फटिकवैद्यर्घमूलमध्याग्रविग्रहाः ॥(15)**

वे मानस्तम्भ बारह योजन की दूरी से दिखाई देते हैं। पालिका के अग्रभाग पर जो कमल हैं उन्हीं पर स्थित हैं, उनका मूलभाग हीरा का, मध्यभाग स्फटिक का और अग्रभाग वैद्यर्घमणिका बना हुआ है।

**द्विसहस्राश्रयो नानारत्नरशिमविमिश्रिताः ।
चतुर्दिक्षूर्ध्वसिद्धार्चाः रत्नभूतोरुपपालिकाः ॥(16)**

हर एक मानस्तम्भ दो-दो हजार कोणों से सहित हैं—दो दो हजार पहले के हैं, नाना रत्नों की किरणों से मिले हुए हैं, उनकी चारों दिशाओं में ऊपर सिद्धों की प्रतिमाएँ विराजमान हैं तथा उनकी रत्नमयी बड़ी-बड़ी पालिकाएँ हैं।

**पालिकामुखपद्मस्थतपनीयस्फुरदघटाः ।
घटास्याबद्धफलकाः श्री भाभामिषवश्रियः ॥(17)**

पालिकाओं के अग्रभाग पर जो कमल हैं उन पर सुवर्ण के दैदीप्यमान घट हैं, उन घटों के अग्रभाग से लगी हुई सीढ़ियाँ हैं तथा उन सीढ़ियों पर लक्ष्मीदेवी के अभिषेक की शोभा दिखलायी गयी है।

**श्री चुलारत्नभाचक्रभास्यर्विशतियोजनाः ।
साभिमानमनोदेवमानरत्नंभना बभुः ॥(18)**

वे मानस्तम्भ लक्ष्मीदेवी के चूड़ारत्न के समान अपनी कान्ति के समूह से बीस योजन तक का क्षेत्र प्रकाशमान करते रहते हैं तथा जिनका मन अहंकार से युक्त है ऐसे देव और मनुष्यों को वहीं रोक देने वाले हैं।

उन मानस्तम्भों की चारों दिशाएँ हँस, सारस और चक्रवॉं के शब्दों से अत्यन्त सुन्दर हैं तथा उनमें खिले हुए कमलों से युक्त चार सरोवर हैं। सरोवरों के आगे एक वज्रमय कोट है जो छाती बराबर ऊचाँ है, अत्यन्त कान्ति से युक्त है, ऊचाँ से दूना चौड़ा है और चारों ओर से धेरे हुए हैं। इस कोट को चारों ओर से धेरकर एक परिखा स्थित है जिसकी भूमि जल के समान कान्तिवाले मणियों से निर्मित है, उसमें घुटनों प्रमाण गहरा पानी भरा है तथा वह पृथिवीरूपी स्त्री की नीली साड़ी के समान जान पड़ती है। वह परिखा अत्यन्त स्वच्छ है तथा उसका जल स्वर्णमय कमलों की पराग के समूह से पीला पीला हो रहा है अतएव उसमें प्रतिबिम्बित दिशारूप स्थियों के मुख अंगराग से सहित के समान जान पड़ते हैं। उसके आगे चारों ओर से धेरकर स्थित लताओं का वन सुशोभित है जो फूलों के द्वारा दिशाओं के अन्त भाग को सुगन्धित कर रहा है तथा पक्षियों और भ्रमरों के समूह से व्याप्त है। उसके आगे दैदीप्यमान सुवर्ण के समान चमकिला, एवं विजय आदि चाँदी के बड़े-बड़े चार गोपुरों से सुशोभित कोट, चारों ओर से धेरे हुए हैं। उन गोपुरों पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल हैं जो कटक आदि आभूषणों से सुशोभित हैं, अपने प्रभाव से अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते रहते हैं तथा जिनके हाथ मुद्गरों से उद्धत होते हैं। दैदीप्यमान कान्ति से युक्त उन गोपुरों के मणिमय तोरणों की दोनों ओर छत्र, चमर तथा भृंगार आदि अष्टमंगल द्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ संख्या में सदा सुशोभित रहते हैं। उन गोपुरों के आगे वीथियों की दोनों ओर तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्यशालाएँ हैं जिनमें बत्तीस-बत्तीस देव कन्याएँ नृत्य करती हैं। तदनन्तर पूर्वदिशा में अशोक वन, दक्षिण में, सप्तवर्ण वन, पश्चिम में चम्पक वन और उत्तर में आम्रवन सुशोभित है। इन चारों वनों में अशोक वन का अशोकवृक्ष, सप्तपर्ण का सप्तपर्ण वृक्ष, चम्पक वन का चम्पक वृक्ष और आम्रवन का आम्रवृक्ष स्वामी हैं। ये स्वामी वृक्ष सिद्ध की प्रतिमाओं से सहित हैं अर्थात् इनके नीचे सिद्धों की प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं। उन वनों में तिकोनी, चौकोनी और गोलाकार अनेक वापिकाएँ हैं। उन वापिकाओं के तट रत्ननिर्मित हैं तथा उनकी भूमि शुद्ध स्फटिक से निर्मित है। ये सभी वापिकाएँ तोरणों

से युक्त हैं, दर्शनीय हैं, सीढ़ियों से युक्त हैं, ऊँचे-ऊँचे बरणङ्गों से सुशोभित हैं, प्रवेश करने में गहरी हैं और दो कोस चौड़ी हैं। नन्दा, नन्दोत्तरा, आनन्दा, नन्दवती, अभिनन्दिनी और नन्दघोषा से छह वापिकाएँ अशोक वन में स्थित हैं। विजया, अभिजया, जैत्री, वैजयन्ती, अपराजिता और जयोत्तरा ये छह वापिकाएँ समर्पण वन में स्थित हैं। कुमुदा, नलिनी, पद्मा, पुष्कर, विश्वोत्पला और कमला ये छह वापियाँ चम्पक वन में मानी गयी हैं और प्रभासा, भास्वती, भासा, सुप्रभा, भानुमालिनी और स्वयंप्रभा ये छह वापियाँ आम्र वन में मानी गयी हैं। पूर्व आदि दिशाओं की वापिकाएँ क्रम से उदय, विजय, प्रीति और ख्याति नामक फल देती हैं तथा इन फलों के इच्छुक मनुष्य इन वापिकाओं की पूजा करते हैं। क्रम के जानने वाले भक्तजन उन वापिकाओं से यथोक्त फूलों का समूह प्राप्त कर स्तूपों तक क्रम-क्रम से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हुए आगे प्रवेश करते हैं।

नाट्यशालाएँ—

अन्तरेणोदयं प्रीतिं चाभितस्त्रिभुवोऽध्वसु ।
भान्ति नाटकशालास्ता हाटकोज्ज्वलमूर्तयः ॥(38)

उदय और प्रीतिरूप फल को देने वाली वापिकाओं बीच के मार्ग के दोनों ओर तीन खण्ड की सुवर्णमय दैदीप्यमान बत्तीस नाट्यशालाएँ हैं।

अध्यर्धक्रोशविस्तारा द्वात्रिंशज्ज्योतिषां स्त्रियः ।
तदभुवो रत्ननिर्माणः स्वच्छस्फटिकभित्तयः ॥(39)

ये नाट्यशालाएँ डेढ़ कोस चौड़ी हैं, नाना प्रकार के बेलबूटों से सुशोभित हैं और उनकी भूमियाँ रत्नों की बनी हैं तथा उनकी दीवालें स्वच्छ स्फटिक से निर्मित हैं।

तासु भक्त्या प्रनृत्यन्ति द्वात्रिंशज्ज्योतिषां स्त्रियः ।
हावभावविलासाद्या रसपुष्टिसपुष्टयः ॥(40)

उनमें ज्योतिषी देवों की बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ नृत्य करती हैं, जो हाव, भाव और विलास से युक्त तथा श्रृंगार आदि रसों की पृष्ठि से सुपुष्ट होती हैं।

ध्वजा

उसके आगे चार गोपुरों से युक्त अत्यन्त सुन्दर वज्रमयी वनदेवी है जो पूर्वोक्त वनों को चारों ओर से घेरे हुए है। चार गोपुरों के आगे चार वीथियाँ हैं और उनके दोनों पसवाड़ों में ध्वजाओं की पक्कियाँ फहराती रहती हैं। प्रत्येक विभाग में उन ध्वजाओं की पृथक्-पृथक् पीठिकाएँ हैं जो तीन धनुष चौड़ी है, चित्र-विचित्र हैं तथा उन पर आधा योजन ऊँचे रत्नमयी बाँस लगे हुए हैं। उन बाँसों के अग्रभाग पर जो पटियाँ लगे हैं उनमें दश प्रकार की रंग बिरंगी, छोटी-छोटी घण्टियों और चित्रपट्टकों से युक्त बड़ी ध्वजाएँ फहराती रहती हैं।

शिखिहंसगरुत्मत्त्रकसिंहे भमकराम्बुजैः ।
वृषरूपेण चक्रेण समधिष्ठितमूर्तयः ॥(44)

वे दस प्रकार की ध्वजाएँ क्रम से मयूर, हंस, गरुड, माला, सिंह, हाथी, मकर, कमल, बैल और चक्र के चिह्न से चिह्नित होती हैं।

तेषामष्टशतं जातिर्द्वित्रिंशत्य चतुःशती ।
ध्वजसंख्या भवेदेषां सामान्येन समासतः ॥(45)

एक दिशा में एक जाति की ध्वजाएँ एक सौ आठ होती हैं और चारों दिशाओं की मिलकर एक जाति की चार सौ बत्तीस होती हैं। यह इनकी सामान्य रूप से संक्षेप में संख्या बतलायी है।

सद्वात्रिंशत्सहस्रा स्युर्लक्षाः पञ्चाशदष च ।
साधिका ध्वजसंख्येण सैकदिक्का द्विसंगुणा ॥(46)

षट्पञ्चाशत्सहस्राणि लक्षा षट्षष्ठिरष्टसु ।
ध्वजकोट्यशतस्त्रः स्युशतुर्दिक्षपि साधिकाः ॥(47)

विशेष रीति से एक दिशा में एक करोड़ सोलह लाख चौसठ हजार हैं और चारों दिशाओं में चार करोड़ अडसठ लाख छत्तीस हजार कुछ अधिक हैं।

प्रीती और कल्याणरूप फल देने वाली वापिकाओं के बीच के मार्ग में दोनों और पाँचखण्ड की नृत्यशालाएँ हैं जिनमें भवनवासी देवों की देवांगनाए नृत्य करती हैं। नृत्यशालाओं के आगे पाँच-पाँच खण्ड के रत्नमयी चार गोपुरों से विभूषित स्वर्णनिर्मित दूसरा कोट है। गोपुरों के दोनों पसवाड़ों में दैदीप्यमान सुवर्ण के पीठों पर स्थित, शंख के समान सुन्दर कण्ठों में पड़ी मालाओं से सुशोभित मुखों पर कमल धारण करने वाले एवं जल से भरे स्वर्णनिर्मित मंगलकलश दो-दो की संख्या में सुशोभित हैं। इस दूसरे कोट के द्वारों पर भवनवासी देवों के इन्द्र द्वारपाल हैं जो बैंत की छड़ी धारण किये हुए पहरा देते हैं। गोपुरों के आगे दो-दो नाट्यशालाएँ हैं और उनके आगे स्वर्णनिर्मित दो-दो धूपघट रखे हुए हैं। उससे आगे चारों दिशाओं में सिद्धों की प्रतिमाओं से युक्त, दो-दो सिद्धार्थ वृक्षों से सहित कल्पवृक्षों का वन वीथियों के अन्त में यथारीति स्थित है। तदनन्तर चार गोपुरों से सहित, वन की रक्षा करने वाली अन्तर्वेदिका है और मार्गों में तोरणों से युक्त, सबका भला करने वाले नौ-नौ स्तूप हैं। वे स्तूप पद्मराग मणियों से निर्मित होते हैं तथा उनके समिप स्वर्ण और रत्नों के बने मुनियों और देवों के योग्य नाना प्रकार के सभागृह रहते हैं। सभागृहों के आगे आकाशस्फटिक मणि से बना, नाना प्रकार के महारत्नों से निर्मित सात खण्डवाले चार गोपुरों से सुशोभित तीसरा कोट है। इस कोट के पूर्वद्वार के विजय, विश्रुत, कीर्ति, विमल, उदय, विश्वधुक, वासवीर्य और वर ये आठ नाम प्रसिद्ध हैं। दक्षिणद्वार के वैजयन्त, शिव, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, अनघ, धारण, याम्य और प्रतिघ ये आठ नाम कहे गये हैं। पश्चिम द्वार के जयन्त, अमितसार, सुधाम, अक्षोभ्य, सुप्रभ, वरुण और वरद ये आठ नाम स्मरण किये गये हैं। और उत्तरद्वार के अपराजित, अर्थ, अतुलार्थ, अदक, अमोघक, उदय, अक्षय और पूर्णकामक ये आठ नाम हैं।

पूर्वभव दर्शक दर्पण-

सुरत्नासनमध्यरथा द्रष्टृणां भवदर्शिनः ।
तदद्वारोभयपाश्वेषु भान्ति मङ्गलदर्पणाः ॥(61)

उन द्वारों के पसवाड़ों में उत्तम रत्नमय आसनों के मध्य में स्थित

मंगलरूप दर्पण सुशोभित हैं जो देखने वालों के पूर्व भव दिखलाते हैं।

यैः प्रध्वस्तमहाध्वान्तप्रभावलय भास्वरैः ।
भास्वतो भासमुदधूय भासन्ते गोपुराण्यलम् ॥(62)

ये दर्पण गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाले कान्ति के समूह से सदा दैदीप्यमान रहते हैं और उनसे गोपुर सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत कर अतिशय शोभायमान होते हैं।

विजयादिक गोपुरों में यथायोग्य 'जय हो' 'कल्याण हो' इन शब्दों का उच्चारण करने वाले एवं दैदीप्यमान आभूषणों से युक्त कल्पवासी देव द्वारपाल रहते हैं। ये तीनों कोट एक कोस, दो कोस और तीन कोस ऊँचे होते हैं तथा मूल, मध्य और ऊपरी भाग में इनकी चौड़ाई, ऊँचाई से आधी होती हैं। इन कोटों के जगती तलों का प्रमाण अपनी ऊँचाई से तीन हाथ कम कहा गया है और उनके ऊपर बने हुए बन्दर के सिर के आकार के कंगरूं एक हाथ तथा एक वितस्ति चौड़े और आधा वेमा ऊँचे कहे गये हैं। उसके आगे नानावृक्षों और लतागृहों से व्याप्त मंच, प्रेखागिरि और प्रेक्षागृहों से सुशोभित अन्तर्वर्ण है। वेदिकाओं से बद्ध वीथियों के बीच में कल्याणजय नाम का आँगन है और उसमें शालमली वृक्ष के समान ऊँचे एवं अन्तर से स्थित केला के वृक्ष प्रकाशमान हो रहे हैं। तदनन्तर उन्हीं के भीतर नाटक शाला है जिसमें सुवर्ण के समान कान्ति की धारक लोकपाल देवों की देवांगनाए निरन्तर नृत्य करती रहती हैं। उनके मध्य में श्रेष्ठ गुणों का स्थान तथा ऊँची उठने वाली किरणों से सुशोभित रत्नावली से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला दूसरा पीठ है। उसके आगे सिद्धार्थवृक्ष हैं जो सिद्धों की प्रतिमाओं से सुशोभित शाखाओं से इच्छापूर्वक ही मानो दिशाओं को व्याप्त कर स्थित हैं। उसके आगे एक मन्दिर है जिसे पृथ्वी के आभरण स्वरूप बारह स्तूप उस तरह सुशोभित करते रहते हैं जिस तरह कि सुवर्णमय चार मेरु पर्वत जम्बूद्वीप के महामेरु को सुशोभित करते रहते हैं।

पूर्व-भव दर्शन वापिकाये-

चतुर्दिग्गोपुरद्वारवेदिकालंकृताः शुभाः।
चतस्रो दिक्षवथ ज्ञेयाक्षतसृष्ट्यविष वापिकाः॥(72)

इनके आगे चारों दिशाओं में शुभ वापिकाएँ हैं जो चारों दिशाओं में बने हुए गोपुरद्वार और वेदिका से अलंकृत हैं।

नन्दाभद्राजयापूर्णत्यभिख्यामि: कृमोदिताः।
यज्जलाभ्युक्षिताः पूर्वा जातिं जानन्ति जन्त्वः॥(73)

नन्दा, भद्रा, जया और पूर्णा ये चार उनके नाम हैं। उन वापिकाओं के जल में स्नान करने वाले जीव अपना पूर्व-भव जान जाते हैं।

ताः पवित्रजलापूर्णसर्वपापरुजाद्वा।
परापरभवाः सप्त दृश्यन्ते यासु पश्यताम्॥(74)

ये वापिकाएँ पवित्र जल से भरी एवं समस्त पापरुपी रोगों को हरने वाली हैं। इनमें देखने वाले जीवों को अपने आगे-पीछे के सात भव दिखने लगते हैं।

जयांगण-

अथ गव्यमुद्दिद्धं योजनाधिकविस्तृतम्।
कटीमात्रवरण्डरथकदलीध्वजसंकुलम्॥(75)

निरन्तरविशन्निर्यज्जनद्वारोच्चतोरणम्।
त्रिलोकविजयाधानमहो भाति जयाजिरम्॥(76)

मुक्ताबालुक विस्तीर्णप्रवालसिकतान्तरम्।
सुरल कुसुमैश्चित्रं हेमाम्भोजैस्तदर्चितैः॥(77)
तपनीयरसालिप्तैस्तपनैरिव भूगतैः।
तत्र तत्र यथादेश्यं मण्डयन्ते पृथुमण्डलैः॥(78)

प्रासादैर्मण्डपैश्रान्यैः सुखावासैः सुशोभते।
देवासुर नरापूर्णस्तत्र तत्र विचित्रितम्॥(79)

वापिकाओं के आगे एक जयांगण सुशोभित है जो एक कोस ऊँचा है, एक योजन से कुछ अधिक ऊँड़ा है, कटि बराबर ऊँचे बरण्डों पर स्थित कदली-ध्वजाओं से व्याप है, जिनमें मनुष्य निरन्तर प्रवेश करते और निकलते रहते हैं ऐसे द्वारों और उच्च तोरणों से युक्त है, तीन लोक की विजय का आधार हैं, उसमें बीच-बीच में मूँगाओं की लाल-लाल बालू का अन्तर देकर मोतियों की सफेद बालू बिछी हुई है, उत्तम रत्नमय पुष्पों और रखे हुए सुवर्णकमलों से चित्र-विचित्र है। उस जयांगण के भूभाग, जहाँ-तहाँ सुवर्ण रस से लिप्त अतएव पृथिवी पर आये हुए सूर्यों के समान दिखने वाले विशाल वर्तुलाकार मण्डलों से सुशोभित हैं। जहाँ-तहाँ नाना प्रकार के चित्रों से विचित्र वह जयांगण, देव, असुर और मनुष्यों से परिपूर्ण भवनों, मण्डपों तथा अन्य सुखकर निवासस्थानों से सुशोभित है।

क्रचिदालेख्य हृद्यानि वेश्मानि क्रचिदन्तरे।
पुराणाभूतभूतीनि चित्राख्यानान्वितानि च॥(80)

कहीं चित्रों से सुन्दर और कहीं पुराणों में प्रतिपादित आश्चर्यकारी विभूति से युक्त तथा नाना प्रकार के कथानकों से सहित भवन बने हैं।

क्रचित्पुण्यफलप्राप्त्या पापपाकेन च क्रचित्।
धर्माधर्मगतिं साक्षादर्शयन्तीव पश्यतः॥(81)

वे भवन कहीं पुण्य के फल की प्राप्ति से देखने वाले लोगों को धर्म का साक्षात् फल दिखलाते हैं तो कहीं पाप का परिपाक दिखाकर अधर्म का साक्षात् फल दिखलाते हैं।

दानशीलतपः पूजा प्रारम्भास्तत्फलानि च।
तद्वियोगविपत्तीश्चतानि श्रद्धापयन्त्यमून्॥(82)

वे भवन उन दर्शकजनों को दान, शील, तप और पूजा के प्रारम्भ तथा उनके फलों की एवं उनके अभाव में होनेवाली विपत्तियों की श्रद्धा कराते हैं।

उस जयांगण के मध्य में सुर्वणमय पीठ को अलंकृत करता हुआ इन्द्रध्वज सुशोभित होता है जो ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान की विजयलक्ष्मी का मूर्तिधारी शरीर ही हो। उस इन्द्रध्वज में दैदीप्यमान गोले, लटकती हुई मोतियों की माला और जगमगाते हुए मणियों से युक्त एक पताका लगी रहती है। वह पताका वायु से कम्पित होने के कारण घण्टियों के शब्द से अत्यन्त रमणीय जान पड़ती है। ऊपर उठती हुई किरणों से युक्त रत्नों की माला से सुशोभित वह पताका जब आकाश में फहराती है तब ऐसी जान पड़ती है मानो समुद्र से लहर ही उठ रही हो। इन्द्रादिक देव उसे बड़े कौतुक से देखते हैं।

महोदय मण्डप -

ततः स्तम्भसहस्रस्थो मण्डपोऽस्ति महोदयः।
नामा मूर्तिमती यत्र वर्तते श्रुतदेवता ॥(86)

उसके आगे एक हजार खम्भों पर खड़ा हुआ महोदय नाम का मण्डप है जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवता विद्यमान रहती है।

तां कृत्वा दक्षिणे भागे धीरैर्बहुश्रुतैर्वृतः।
श्रुतं व्याकुरुते यत्र श्रायसं श्रुतकेवली ॥(87)

उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में करके, बहुश्रुत के धारक अनेक धीर-वीर मुनियों से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते हैं।

तदर्धमानाश्वत्वारस्तत्परीवारमण्डपाः।
आक्षेपण्यादयो येषु कथ्यन्ते कथकैः कथाः ॥(88)

महोदय मण्डप से आधे विस्तार वाले चार परिवार मण्डप और हैं जिनमें कथा कहनेवाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएँ कहते रहते हैं।

तत्प्रकीर्णकवासेषु चित्रेष्वाचक्षते स्फुटम्।
ऋष्यः स्वेष्टमर्थिभ्यः केवलादिमहर्घ्यः ॥(89)

इन मण्डपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर (छोटे-मोटे) स्थान

भी बने रहते हैं जिनमें बैठकर केवलमान आदि महाऋषियों के धारक ऋषि इच्छुक जनों के लिए उनकी इष्ट वस्तुओं का निरूपण करते हैं। उसके आगे नाना प्रकार की लताओं से व्यास एक सुर्वणमय पीठ रहता है जिसकी भव्यजीव नाना प्रकार की समयानुसार पूजा करते हैं। उस पीठ का श्रीपद नाम का द्वार है जो रत्नों और फूलों के समूह से युक्त है तथा जो मार्ग के बीच में बने हुए सूर्य और चन्द्रमा के समान दैदीप्यमान मण्डलों से परिपूर्ण है। उस द्वार के दोनों ओर प्रभासक नाम के दो मण्डप हैं जिनमें मार्ग के सम्मुख, इच्छानुसार फल देने वाले निधियों के स्वामी दो देव सुशोभित रहते हैं। उनके आगे प्रभदा नाम की दो विशाल नाट्यशालाएँ हैं जिनमें कल्पवासिनी अप्सराएँ सदा नृत्य करती रहती हैं।

लोकस्तूप -

जयांगण के कोनों में चार लोकस्तूप होते हैं जिन पर पताकाओं की पंक्तियां फहराती रहती हैं, तथा जो एक योजन ऊँचे रहते हैं। ये लोकस्तूप, नीचे वेत्रासन के समान, मध्य में झालर के समान, ऊपर मृदंग के समान और अन्त में तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से रहित है। इनका स्वच्छ स्फटिक के समान रूप होता है, अतः इनके भीतर की रचना अत्यन्त स्पष्ट रहती है। इन स्तूपों में लोक की रचना दर्पणतल के समान स्पष्ट दिखाई देती हैं।

मध्यलोकादि स्तूप -

इन स्तूपों के आगे मध्यलोक नाम से प्रसिद्ध स्तूप हैं जिनके भीतर मध्यलोक की रचना स्पष्ट दिखती है। आगे मन्दराचल के समान दैदीप्यमान मन्दिर नाम के स्तूप हैं जिन पर चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमाएँ सुशोभित हैं। उनके आगे कल्पवासियों की रचना से युक्त कल्पवास नामक स्तूप हैं जो देखनेवालों को कल्पवासी देवों की विभूति साक्षात् दिखाते हैं उनके आगे ग्रैवयकों के समान आकार वाले ग्रैवयेक स्तूप हैं जो मनुष्यों को मानो ग्रैवयकों की शोभा ही दिखाते रहते हैं। उनके आगे अनुदिश नाम के नौ स्तूप सुशोभित हैं जिनमें प्राणी नौ अनुदिशों को प्रत्यक्ष देखते हैं। आगे चलकर जो चारों

दिशाओं में विजय आदि विमानों से सुशोभित हैं ऐसे समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले सर्वार्थसिद्धि नाम के स्तूप हैं। वन के आगे स्फटिक के समान निर्मल सिद्धस्तूप प्रकाशमान हैं जिनमें सिद्धों के स्वरूप कों प्रकट करने वाली दर्पणों की छाया दिखाई देती है।

भव्यकूट-स्तूप-

भव्यकूटाख्यया स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे ।
यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावान्धीकृतेक्षणाः ॥(104)

उनके आगे दैदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नामके स्तूप रहते हैं जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते क्योंकि उनके प्रभाव से उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं।

प्रमोह-स्तूप-

प्रमोहा-नाम सन्त्यन्ये स्तूपा यत्र प्रमोहिताः ।
विस्मरन्ति यथाग्राहं चिराभ्यस्तं च देहिनः ॥(105)

उनके आगे प्रमोह नाम के स्तूप हैं जिन्हें देखकर लोग अत्यधिक विस्मय में पड़ जाते हैं और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते हैं।

प्रबोध-स्तूप-

प्रबोधाख्या भवन्त्यन्ये स्तूपा यत्र प्रबोधिताः ।
तत्त्वमासाद्य संसारान्मुच्यन्ते साधवो ध्रुवम् ॥(106)

आगे चलकर प्रबोध नाम के अन्य स्तूप हैं जिन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त हो जाते हैं और तत्व को प्राप्त कर साधु हो निश्चित हो संसार से छूट जाते हैं।

इस प्रकार जिनकी वेदिकाएँ एक दूसरे से सटी हुई हैं तथा जो तोरणों से समुद्धसित है ऐसे अत्यन्त ऊँचे दशस्तूपा क्रम-क्रम से परिधि तक सुशोभित हैं। इसके आगे एक कोट रहता है जो एक कोस चौड़ा तथा एक धनुष ऊँचा

होता है और उसके मण्डल की भूमि को बचाकर मनुष्य तथा देव प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इस परिधि में बाहर की ओर सत्रह कर्णिकाएँ हैं जो एक-एक कोस विस्तृत हैं और भीतर की ओर एक कर्णिका है जो साढ़े तीन योजन विस्तार वाली है। जिस प्रकार परिवेश सूर्य को धेरता है उसी प्रकार चित्र-विचित्र रत्नों से निर्मित यह परिधि भीतर के दैदीप्यमान मण्डल को धेरे रहती है।

दिव्यपुर-

निर्मित्सानन्तरं भर्तुर्वजस्योत्पद्यते पुरम् ।
दिव्यं तत्र प्रभावो हि मनसा ज्ञायिनां महान् ॥(111)

वहां गणधर देव की इच्छा करते ही एक दिव्यपुर बन जाता है सो ठीक है क्योंकि मनः पर्यय ज्ञान के धारक जीवों का प्रभाव महान् होता है। वह पुर कल्प के ज्ञाता मनुष्य के द्वारा त्रिलोकसार, श्रीकान्त, श्रीप्रभु, शिवमन्दिर, त्रिलोकश्री, लोक कान्ति श्री, श्रीपुर, त्रिदशप्रिय, लोकालोक प्रकाशाद्यौ उदय, अन्युदयावह, क्षेम, क्षेमपुर, पुण्य, पुण्याह, पुष्कास्पद, भुवःस्वर्भूः, तपःसत्य, लोकालोकोत्तम, रुचि, रुचावह, उदारहिं, दानधर्मपुर, श्रेय, श्रेयस्कर, तीर्थ, तीर्थावह, उदग्रह, विशाल, चित्रकृट, धी, श्रीधर, त्रिविष्टप, मंगलपुर, उत्तमपुर, कल्याणपुर, शरणपुर, जयपुरी, अपराजितापुरी, आदित्यपुरी, जयन्तीपुरी, अचलसंपुर, विजयन्त, विमल, विमलप्रभ, कामभू, गगनाभोग, कल्याण, कलिनाशन, पवित्र, पंचकल्याण, पद्मावत, प्रभोदय, पराधर्य, मण्डितावास, महेन्द्र, महिमालय, स्वायम्भुव, सुधाधात्री, शुद्धावास, सुखावती, विरजा, वीतशोका, अर्थविमला, विनयावनि, भूतधात्री, पुराकल्प, पुराण, पुण्यसंचय ऋषीवती, यमपती, रत्नवती, अजरामरा, प्रतिष्ठा ब्रह्मानिष्ठोर्वी, केतुमालिनि, अरिन्दम, मनोरम, तमःपार, अरत्नी, रत्नसंचय, अयोध्या, अमृतधानी, ब्रह्मपुर, जाता हृदय और उदातार्थ नाम से कहा जाता है।

अथ त्रैलोक्यसारैकसंदोहमयमद्वृतम् ।
भाति भर्तु प्रभावोत्थं तत्पदं बहुविस्मयम् ॥(123)

भगवान् के प्रभाव से उत्पन्न वह नगर, तीन लोक के समस्त श्रेष्ठ

पदार्थों के समूह से युक्त, आश्चर्यस्वरूप एवं बहुत भारी आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ सुशोभित होता है।

**कृतावधानस्तत्सिद्धिं भूयः स्त्रष्टापि चिन्तयन्।
ध्रुवं मोमुह्यतेऽन्यस्य तथा चैतत्र का कथा॥(124)**

उसको बनाने वाला कुबेर भी एकाग्रचित्त हो उसके बनाने का पुनः विचार करे तो वह भी नियम से भूल कर जायेगा फिर अन्य मनुष्य की बात ही क्या है?

उस नगर का निर्माण यथास्थान छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और मणियों से चित्र-विचित्र है अतः अत्यधिक सुशोभित होता है। उसके तलभाग में तीन जगती रहती है जो आधा-आधा कोस चौड़ी होती है और ऊपर-ऊपर उन जगतियों में उतनी ही हानि होती जाती है। उन जगतियों की रचना वज्रमयी एवं चित्र-विचित्र रत्नों से उज्ज्वल है और उनकी श्रेष्ठ कान्ति चारों और इन्द्रधनुषों को विस्तृत करती रहती है। छाती प्रमाण ऊँचे तथा दैदीप्यमान प्रभा के धारक बरण्डे उन जगतियों को सुशोभित करते रहते हैं तथा उन पर एक धनुष के अन्तर से स्थित सुशोभित पताकाएँ हैं।

उन जगतियों में तीस-तीस वितस्तियों के कूट और उनसे द्विगुण आयाम वाले दश-दश धनुषों के अन्तर से स्थित कोष्ठक रहते हैं। उन जगतियों के समीप दोनों ओर द्वारपालों के दो-दो आवास स्थान हैं जिनमें प्रत्येक द्वार पर कुबेर की अंपूर्व धनराशि प्रकाशमान है। प्रत्येक जगती के कूटों की संख्या सातसौ बहत्तर है तथा कोष्ठकों की संख्या अड़तालीस है। संक्षेप से तीनों जगतियों की कूट संख्या बाईस सौ बीस है और कोष्ठों की संख्या उसी प्रमाण से है। प्रथम जगती में बत्तीस हजार तीन सौ इक्यासी, दूसरी में चौबीस हजार दो सौ उन्नीस और तीसरी में इक्तीस हजार छप्पन ध्वजाएँ रहती हैं। पूर्व कूटों में दो लाख बत्तीस हजार चार सौ सत्तर, मध्यम कूटों में सात लाख इक्सठ हजार एक सौ, अन्तिम कूटों में दो लाख चौवन हजार आठ सौ अस्सी और कोष्ठकों में दूनी-दूनी हैं। इस प्रकार समस्त ध्वजाओं की संख्या छब्बीस लाख बीस हजार दो सौ छप्पन है। वहाँ स्स्वेद-जलसिक्त प्रदेशों में रत्नों से मणिडत अनेक-अनेक मण्डप हैं जो दो कोस चौड़े और

एक कोस ऊँचे हैं, जिनकी रचना मण्डपों से आधी चौड़ी है, ऐसे शिखरों के मध्य भाग में विराजमान जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ हैं जो उत्तम मंगल द्रव्यों से सुशोभित हैं।

**तत्रस्था अपि तद्वेशाद्विनिष्क्रिम्य नभस्मयी।
यथोपदिष्टा दृश्यन्ते संमुखीभूय पश्यताम्॥(139)**

यद्यपि ये प्रतिमाएँ अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं तथापि सामने खड़े होकर देखनेवालों को ऐसी दिखाई देती हैं मानो उन स्थानों से निकलकर आकाश में ही विद्यमान हों।

4000 धर्म चक्र

**पीठानि त्रीणि भास्वन्ति चतुर्दिक्षु भवन्ति तु।
चत्वारि च सहस्राणि धर्मचक्राणि पूर्वके॥(140)**

वहाँ चारों दिशाओं में दैदीप्यमान तीन पीठ होते हैं। उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित हैं।

दूसरी पीठ पर मध्यूर और हंसों की ध्वजाओं से भिन्न आठ प्रकार की महाध्वजाएँ दिशाओं को सुशोभित करती हुई विद्यमान हैं। तीसरी पीठ पर श्रीमण्डप को सुशोभित करने वाला अनेक मंगल द्रव्यों से सहित गन्धकुटी नाम का प्रासाद है। उसमें भगवान का सिंहासन रहता है। उस सिंहासन पर विराजमान जिनेन्द्रदेव की सन्तुष्ट चित्त के धारक मनुष्य, सुर और असुरों के झ्याण्ड मुकुटों पर हाथ लगाकर स्तुति करते थे। वे कह रहे थे कि हे महादेव ! आपकी जय हो ! हे महेश्वर ! आप जयवन्त हों, हे महाबाहो ! आप विजयी हों, हे विशालनेत्र ! जयवन्त हों !

12 सभाएँ

मार्ग के चारों ओर घेरकर बारह सभाएँ उनकी पूर्व, दक्षिण आदि दिशाओं में मुनिसमूह आदि को लेकर बारह गण विराजमान थे। वहाँ उत्कृष्ट वर को प्रदान करने वाले भगवान् नेमिनाथ के आगे वरदत्त को आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे जो धर्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाले एवं अत्यन्त

निर्मल धर्मेश्वर के अंश के समान जान पड़ते थे। उनके आगे कल्पवासिनी देवियाँ सुशोभित थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो भगवान् की बाह्याभ्यन्तर विभूतियाँ ही उनका रूप रखकर स्थित हों। उनके बाद तीसरी सभा में लज्जा, दया, शान्ति, आदि गुणरूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्थिकाएँ विराजमान थीं जो समीचीन धर्म की पुत्रियों के समान जान पड़ती थीं। चौथी सभा में प्रश्नसनीय एवं अपने आपसे निकलने वाली प्रभा से सुशोभित ज्योतिषी देवों की स्त्रियाँ बैठी थीं जो भगवान् की कान्ति के समान जान पड़ती थीं। पाँचवीं सभा में मूर्तिधारिणी वन की लक्ष्मी के समान सुन्दर वनवासी व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ स्थित थीं तथा वे वन की पुष्पलताओं के समान नम्रीभूत हो भगवान् के चरणों को नमस्कार कर रही थीं। छठी सभा में भगवान् की अत्यधिक भक्ति से युक्त भवनवासी देवों की अंगनाएँ स्थित थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानों स्वर्ग भूमि और अधोलोक की लक्ष्मियाँ ही भगवान् के समीप आकर बैठी हैं। सातवीं सभा में फणा के समान दैदीप्यमान रत्नों की कान्ति से लाल-लाल दिखनेवाले भवनवासी देव, अपने संसार से भयभीत होते हुए, पापबन्ध का छेदन करने वाले भगवान के समीप विद्यमान थे। आठवीं सभा में सुन्दर आकार के धारक व्यन्तर देव बैठे थे। वे भगवान् के आभूषणस्वरूप थे तथा फूलों की मालाओं को धारण करने वाले मन्दरगिरि के समान जान पड़ते थे। नवमीं सभा में, जिनकी अपनी प्रभा भगवान् की प्रभा में निमग्न हो गयी थी ऐसे सूर्य आदि ज्योतिषि देवों के समूह नम्रीभूत हो भगवान् से अपनी प्रभावृद्धि की प्रार्थना कर रहे थे। दसवीं सभा में सौन्दर्य के स्वामी, सुखी एवं ऊपर उठे हुए भगवान के अंशों के समान इन्द्र आदि कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे। ग्यारहवीं सभा में चक्रवर्ती आदि राजा, भगवान् की उपासना करते थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरीरधारी दान-पूजा आदि धर्मों के निर्मल अंश ही हो।

अविद्यावैरमायादिदोषापायासदगुणाः ।

हरीभाद्या विभान्त्यन्ये तिर्यचस्ताद्वशो यथा ॥(160)

तथा बारहवीं सभा में जिन्हें अविद्या, वैर, माया आदि दोषों के नष्ट हो जाने से विद्या, क्षमा आदि तत्तदगुण प्राप्त हुए थे ऐसे सिंह, हाथी आदि

तिर्यच विद्यमान थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों उन्हीं के समान दूसरे तिर्यच हो। भावार्थ-तिर्यच अपनी स्वाभाविक कुटिलता को छोड़कर तदाकार होने पर भी ऐसे लगते थे जैसे ये वे न हों दूसरे ही हो।

इस प्रकार द्वादशांग के गुणों के समान बारह सभाओं-सम्बद्धों बारह गण, प्रदक्षिणा रूप से भगवान् की उपासना करते थे।

अष्ट प्रातिहार्य युक्त तीर्थकर-

भगवान नेमिनाथ अपने सिंहासन की शोभा से दूसरों में न पाये जाने वाले परमेष्ठीपना को ख्यापित कर रहे थे। क्रमपूर्वक ढोरे जाने पर देवोपनीत चमरों से महेशिंता को, तीन चन्द्रमा के समान कान्ति को धारण करने वाले छत्रत्रय से तीन लोक के स्वामित्व को, संसार के आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करने वाले भामण्डल से कान्ति की अधिकता को, सब ऋतुओं के फूलों से युक्त अशोकवृक्ष के द्वारा अन्य समस्त जीवों के शोक दूर करने की सामर्थ्य को, पुष्पवृष्टिरूप पूजा के द्वारा पूज्यता को, अभयोत्पत्ति की घोषणा करने वाली दिव्य ध्वनि से जयलक्ष्मी की सर्वहितकारिता को और आनन्ददायी मंगलमय वादित्रों के नाद से साधुजनों के चित्त को आनन्दित करने की सामर्थ्य को प्रकट कर रहे थे।

आत्माधीना: प्रतीहारा: प्रामिहार्यगुणोद्भवैः ।

भूषितोऽष्टमहोदग्रातिहार्यमहेश्वरः ॥(106)

जो आत्मा के अधीन हो उन्हे प्रतीहार कहते हैं। इस प्रकार आत्माधीन गुणों से उत्पन्न अष्ट महाप्रतिहार्यों से भगवान नेमिनाथ सुशोभित हो रहे थे।

लोकानां भूतये भूतिमभात्मीयां सकलां दधत ।

सर्वलोकातिवर्तिन्या भासास्थामधिष्ठितः ॥(167)

आत्मोत्थ समस्त विभूति को धारण करने वाले भगवान् सर्वलोकातिवर्ती दिसि से लोगों का कल्याण करने के लिए समवसरण में विराजमान हुए।

देवों का आह्वान-

अयमास्ते सभग्रात्मा स्वार्थं कामाः ससंभ्रमा ।
एतैत नमतैशानमित्याह्वानं सधोषणम् ॥(168)

उस समय देव लोग घोषणा के साथ यह कहकर जीवों का आह्वान कर रहे थे कि हे आत्महित के इच्छुक भव्यजनों ! सम्पूर्ण विकसित आत्मा को धारण करने वाले केवली भगवान यह विराजमान है, शीघ्रता से यहां आओ-आओ और इन्हें नमस्कार करो ।

वर्तयन्ति सुरास्तस्मिन्मण्डले तदनु द्वृतम् ।
समन्तात्तस्मायान्ति भूतिभिर्नुसुरासुराः ॥(169)

इस प्रकार जब देवों ने आह्वान किया तब शीघ्र ही मनुष्य, देव और असुर वैभव के साथ सब ओर से समवसरण में आने लगे ।

विश्वधर्म सभा का अनुशासन-

तदृष्टिगोचरे मङ्ग्कु वाहनेभ्योऽवतीर्यते ।
मानाङ्ग्नमथास्थाय पूर्वं साञ्चलिमौलिभिः ॥(170)

समवसरण के दृष्टिगोचर होते ही वे मानांगण में खड़े हो सबसे पहले हाथ जोड़ मस्तक से लगाकर वाहनों से नीचे उतरते हैं ।

तत्र बाह्ये परित्यज्य वाहनादिपरिच्छदम् ।
विशिष्टककुर्द्युक्ता मानपीठं परीत्यं ते ॥(171)

तदनन्तर वाहन आदि परिग्रह को बाहर छोड़कर विशिष्ट राज्य चिन्हों से युक्त हो मानपीठ की प्रदक्षिणा देते हैं ।

प्रादक्षिणण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भनमादितः ।
उत्तमाः प्रपिशत्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥(172)

प्रदक्षिणा के बाद सबसे पहले मानस्तम्भ को नमस्कार करते हैं तदनन्तर हृदय में उत्तम भक्ति को धारण करते हुए उत्तम पुरुष भीतर प्रवेश करते हैं ।

पापशीला विकर्माणः शूद्राः पाखण्डपण्डकाः ।
विकलाङ्गेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति बहिस्ततः ॥(173)

और पापी, विरुद्ध कार्य करने वाले, शुद्र पाखण्डी, नपुंसक, विकलांग, विकलेन्द्रिय तथा भ्रान्त चित्त के धारक मनुष्य बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते हैं ।

छत्रचामरभुडाराद्यवहाय जयाजिरे ।
आसैरनुगताः कृत्वा विशन्त्यञ्चलिमीक्षराः ॥(174)

सुरेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्र आदि उत्तम पुरुष छत्र, चमर और शृंगार आदि को जयांगण में छोड़ आसजनों के साथ हाथ जोड़कर भीतर प्रवेश करते हैं ।

पविश्य विधिवद्भक्तया प्रणम्य मणिमौलयः ।
चक्रपीठं समारह्य परियन्ति त्रिरीक्षरम् ॥(175)

मणिमय मुकुटों को धारण करने वाले वे सब, भीतर प्रवेश कर विधिपूर्वक प्रणाम करते हैं और चक्रपीठ पर आरूढ़ होकर भगवान् जिनेन्द्र की तीन बार प्रदक्षिणा देते हैं ।

पूजयन्तो यथाकामं स्वशक्ति विभवार्चनैः ।
सुरासुरनरेन्द्राद्य नामादेशं नमन्ति च ॥(176)

इच्छानुसार अपनी शक्ति और विभव के अनुकूल सामग्री से पूजा करते हुए अपने नाम का उल्लेख कर नमस्कार करते हैं ।

ततोऽवतीर्य सोपानैः र्वैः र्वैः स्वाञ्जिमौलयः ।
रोमाञ्चण्यकं हर्षस्ते यथास्थानं समासते ॥(177)

तदनन्तर जिन्होंने अपनी अंजलियाँ मस्तक से लगा रखी हैं और रोमांचों से जिनका हर्ष प्रकट हो रहा है ऐसे वे सब अपनी-अपनी सीढ़ियों से नीचे उतरकर सभाओं में यथास्थान बैठते हैं ।

अभ्यर्क विकसम्भाति कमलाकरमण्डलम्।
यथा तथा जिनाभ्यर्कं तदगणाम्बुजमण्डलम्॥(178)

जिस प्रकार सूर्य के समुख खिला हुआ कमलों का समूह सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवानरूपी सूर्य के समुख वह द्वादश गणरूपी सभारूपी कमलों का समूह सुशोभित हो रहा था।

सा सेना सर्वतः सर्वा पृथिव्यन्ती तदास्पन्दम्।
नालं पूरयितुं पूर्णा नदीव वरुणास्पन्दम्॥(179)

जिस प्रकार नदी समुंद्र को भरने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार सब और से समवसरण में प्रवेश करती हुई वह सेना उसे भरने में समर्थ नहीं थी।

निर्यदाय द्विशत्पश्यत्परीयत्रीणदानमत्।
स्तुवदीशं सतां वृन्दं सततं तत्र वर्तते॥(180)

वहाँ बाहर निकलता, आता, प्रवेश करता, दर्शन करता, प्रदक्षिणा देता, सन्तुष्ट होता, भगवान को प्रणाम करता और उनकी स्तुति करता हुआ सज्जनों का समूह सदा विद्यमान रहता है।

भगवान् के प्रभाव-

न मोहोन मयद्वेषौ नोत्कण्ठारतिमत्सराः।
अस्यां भद्रिप्रभावेण जम्भाजम्भा न संसदि॥(181)
निद्रातन्द्रा परिक्लेशक्षुत्पिपासा सुखानि न।
नास्त्यन्यद्याशिवं सर्वमहरेव च सर्वदा॥(182)

समवसरण के भीतर भगवान् के प्रभाव से न मोह रहता है, न राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, न उत्कण्ठा, रति एवं मात्सर्य भाव रहते हैं, न अंगडाई और जमुहाई आती है, न नींद आती है, न तन्द्रा सताती है, न क्लेश होता है, न भूख लगती है, न प्यास का दुःख होता है और न सदा समस्त दिन कभी अन्य समस्त प्रकार का अमंगल ही होता है।

समवसरण भूमौ बाह्यभूत्येकभूमौ स्थित वति मुनिनाथेऽत्रान्तरंगा पूतौ।
पिषति तृष्णितनेत्रैद्वादशानां गणानां समितिरमृतरूपं जैनरूपाम्बुराशिम्॥(183)

ब्रह्मा विभूति के अद्वितीय स्थान समवसरण भूमि मे जब अन्तरंग आत्मा की पवित्रता से युक्त भगवान् विराजमान होते हैं तब बारह सभाओं का समूह अपने तृष्णित नेत्रों से उनके अमृतरूप सौन्दर्य सागर का पान करता है।

भगवान् से हित की जिज्ञासा-

एवं	नित्योत्सवानन्त	कल्याणैकारपदे	पदे।
लोके	धर्म प्रशश्नौ	कृताङ्गलिपुटे	स्थिते॥(1)
			(ह.वें.पु.660)

वदतां	वरमानम्य	वरदत्तो	गणग्रणीः।
हितं	पप्रच्छ भव्यानां	समस्तानां	जिनेश्वरम्॥(2)

इस प्रकार नित्य उत्सव और अनन्त कल्याणों के एक स्थानस्वरूप समवशरण में जब धर्म सुनने के इच्छुक जीव हाथ जोड़कर बैठ गये तब वरदत्त गणधर ने वक्ताओं में श्रेष्ठ श्री नेमि जिनेन्द्र को नमस्कार कर समस्त भव्यजीवों का हित पूछा। भावार्थ- हे भगवान्! समस्त जीवों के लिए हितरूप क्या है, ऐसा प्रश्न किया।

दिव्यध्वनि-

तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुरवपिनिर्गता।
चतुर्मुखफला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया॥(3)
चतुरस्त्रानुयोगानां चतुर्णामेकमातृका।
चतुर्विधकथावृत्तिश्चतुर्गति निवारिणी॥(4)
एक द्वित्रिचतुः पञ्चषट्सप्ताष्टनवास्पदा।
अपर्यायापि सत्तेवानन्तपर्यायभाविनी॥(5)
अहितं शातयन्ती सा शेचयन्ती हितं सदा।
स्थापयन्ती च तत्पात्रे धारयन्ती यथायथम्॥(6)
वाश्यन्त्यशुभादाशु पूरयन्ती शुभं परम्।
क्षधन्त्यर्जितं कर्म ग्लपयन्ती प्रभावतः॥(7)

समन्ततः शिवस्थानाद्यो जनाधिक कमण्डले ।
 अत्रैवात्रैय वृत्तेति तत्र तत्रास्ति ताहशी ॥(8)
 मधुरस्निग्ध गम्भीरदिष्योदात्तस्फुटाक्षरम् ।
 वर्सतेऽनन्य वृत्तैका तत्र साध्वी सरस्वती ॥(9)

गणधर के उक्त प्रश्न के अनन्तर भगवान् की दिव्य ध्वनि खिरने लगी। भगवान् की यह दिव्य ध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चारमुखों से निकलती थी; चार पुरुषार्थरूप चार फल को देने वाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और आश्रमों को आश्रय देने वाली थी, चारों ओर सुनाई पड़ती थी, चार अनुयोगों की एक माता थी, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजिनी और निर्वैदिनी इन चार कथाओं का वर्णन करने वाली थी, चार गतियों का निवारण करने वाली थी। एक, दो, तीन चार, पाँच, छह, सात, आठ और नौ का स्थान थी, अर्थात् सामान्य रूप से एक जीव का वर्णन करने वाली होने से एक का स्थान थी श्रावक, मुनि के भेद से दो प्रकार के धर्म का अथवा चेतन, अचेतन और मूर्तिक-अमूर्तिक के भेद से दो द्रव्यों का निरूपक होने से दो का स्थान थी, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूपी रत्नत्रय अथवा चेतन, अचेतन और चेतनाचेतन द्रव्यों का वर्णन करने वाली होने से तीन का स्थान थी, चार गति, चार कषाय अथवा मिथ्यात्वादि चार प्रत्ययों का निरूपण करने वाली होने से चार का स्थान थी, पाँच अस्तिकाय अथवा प्रमाद सहित मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्ययों का वर्णन करने वाली होने से पाँच का स्थान थी, छह द्रव्यों का वर्णन करने वाली होने से छह का स्थान थी, सात तत्वों की निरूपक होने से सात का स्थान थी। आठ कर्मों का निरूपण करने वाली होने से आठ का स्थान थी और सात तत्व तथा पुण्य-पाप इन नौ पर्दाथों का वर्णन करने वाली होने से नौका स्थान थी। पर्याय-रहित होने पर भी सत्ता के समान अनन्त पर्यायों को उत्पन्न करने वाली थी, अहित को नष्ट करने वाली थी, सदा हित की रूचि उत्पन्न करनेवाली थी, हित का स्थापन करने वाली थी, पात्र में यथायोग्य हित को अपने प्रभाव से धारण करने वाली थी, अशुभ से शीघ्र हटाने वाली थी, उत्कृष्ट शुभ को पूर्ण करने वाली थी अर्जित कर्म को शिथिल करने वाली अथवा बिल्कुल

ही नष्ट करने वाली थी जहाँ भगवान् विराजमान थे वहाँ से चारों ओर एक योजन के घेरा में इतनी स्पष्ट सुनाई पड़ती थी वैसी ही एक योजन के घेरा में सर्वत्र सुनाई पड़ती थी-उसमें हीनाधिकता नहीं मालूम होती थी, मधुर स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरों से युक्त थी, अनन्यरूप थी, एक थी और साध्वी अतिशय निर्मल थी।

दिव्यध्वनि विशेषता-

इत्याध्यात्मपिशेषस्य दीपिका दीपिकेव सा ।
 रूपादेः शमयत्याशु तमिस्त्रं तत्र सन्ततम् ॥(14)

इस अध्यात्म विशेष को प्रकट करने के लिए वह दीपिका के समान थी तथा रूप आदि गुणों के विषय में जो अज्ञानान्धकार विस्तृत था उसे शीघ्र ही दूर कर रही थी।

अनानात्मापि तदवृत्तं नाना पात्रगुणाश्रयम् ।
 सभायां दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ ॥(15)

जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एकरूप होता है परन्तु पृथिवी पर पड़ते ही वह नानारूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान् की वह वाणी यद्यपि एकरूप थी तथापि सभा में पात्र के गुणों के अनुसार वह नानारूप दिखाई दे रही थी।

सावधानसभान्तर्थं ध्वन्तं सावरणं ध्वनिः ।
 जैनोत्यकर्मिन द्विष्यो विश्वात्मेत्यादिभासनः ॥(16)

संसार के जीवादि समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली भगवान् की वह दिव्य ध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण-सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी।

विश्व गुरु का अमर दिव्य संदेश-

भावाभावद्वयाद्वैतेभावबद्धा
अहेतुर्दृश्यते तस्यामनाद्या पारिणामिकी ॥(10)

भगवान् की उस दिव्य ध्वनि में जगत् की वह स्थिति दिख रही थी जो भाव और अभाव के अद्वैत-भाव से बँधी हुई है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से भावरूप और पर्यायार्थिक नय से अभाव रूप है, अहेतुक है-किसी कारण से उत्पन्न नहीं है, अनादि है और पारिणामिकी है-स्वतः सिद्ध है।

अस्त्यात्मा परलोकोऽस्ति धर्माधर्मो स्त एव च।
तयोः कर्तास्ति भोक्तास्ति चास्ति नास्तीति यत्पदम् ॥(11)

आत्मा है, परलोक है, धर्म और अधर्म है, यह जीव उनका कर्ता है, भोक्ता है तथा संसार के सब पदार्थ अस्तिरूप और नास्तिरूप है, यह कथन भी उसी दिव्यध्वनि में दिखाई देता था।

स्वयं कर्म करोत्यामा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥(12)

यह जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं उससे मुक्त होता है।

अविद्यारागसंक्लिष्टो बम्भ्रमीति भवार्णवे।
विद्यावैराग्य शुद्धः सन् सिद्धयत्य विकल स्थितिः ॥(13)

अविद्या तथा राग से संक्लिष्ट होता हुआ संसार-सागर में बार-बार भ्रमण करता है और विद्या तथा वैराग्य से शुद्ध होता हुआ पूर्ण स्वभाव में स्थित हो सिद्ध हो जाता है।

इत्याध्यात्मविशेषस्य दीपिका दीपिकेवसा।
रूपादेः शमयात्याशु तमिस्त्रं तत्र सन्ततम् ॥(14)

इस अध्यात्म विशेष को प्रगट करने के लिए वह दीपिका के समान थी तथा रूप आदि गुणों के विषय में जो अज्ञानान्धकार विस्तृत था उसे

शीघ्र ही दूर कर रही थी।

अनानात्मापि तद्वृतं नाना पात्रगुणाश्रयम्।
सभायां दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ ॥(15)

जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एकरूप होता है, परन्तु पृथिवी पर पड़ते ही वह नानारूप दिखाई देने लगता है उसी प्रकार भगवान् की वह वाणी यद्यपि एकरूप थी तथापि सभा में पात्र के गुणों के अनुसार वह नानारूप दिखाई दे रही थी।

सावधानसभान्तस्थं ध्वान्तं सावरणं ध्वनिः।
जैनोत्यकर्मभिनद्विव्यो विश्वात्मेत्यादिभासनः ॥(16)

संसार के जीवादि समस्त पर्देशों को प्रकाशित करने वाली भगवान् की वह दिव्यध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण-सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी।

भवपद्मतिपान्थस्यभव्यताशुद्धियोगिनः।
देहिनः पुरुषार्थोऽत्र प्रेक्षितो मोक्षलक्षणः ॥(17)

भगवान् कह रहे थे कि संसार के मार्ग का जो पथिक भव्यतारूपी शुद्धि से युक्त होता है उसी के मोक्ष पुरुषार्थ देखा गया है। भावार्थ मोक्ष की प्राप्ति भव्य जीव को ही होती है।

उपायस्तस्य मोक्षस्य ध्यानाध्यानैकहेतुतः।
प्राक्सम्यगर्दशविज्ञान-चारित्रत्रियात्मकः ॥(18)

उस मोक्ष का उपाय ध्यान और अध्ययन रूप एक हेतु से प्राप्त होता है तथा सबसे पूर्व वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदायरूप है।

उनमें जीवादि सात तत्वों का, निर्मल तथा शंका आदि समस्त अन्तरङ्ग, मलों के सम्बन्ध से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। वह सम्यग्दर्शन,

दर्शनमोहरुपी अन्धकार के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, क्षायिक आदि के भेद से तीन प्रकार का है और निसर्गज तथा अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं, इनके अपने अपने लक्षणों से श्रद्धान करना चाहिए। जीव का लक्षण उपयोग है और वह उपयोग आठ प्रकार का है। उपयोग के आठ भेदों में मति, श्रुत और अवधि ये तीन, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान दोनों रूप होते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख ये सब चिदात्मक हैं ये ही जीव के लक्षण हैं, क्योंकि इनसे ही चैतन्यरूप जीव की पहचान होती है। पृथिवी आदि भूतों की आकृति मात्र को जीव नहीं कहते; क्योंकि वह तो इसके शरीर की अवस्था है। शरीर का चैतन्य के साथ अनेकान्त है अर्थात् शरीर यहीं रह जाता है और चैतन्य दूर हो जाता है। आटा, किण्व (मदिरा का बीज) तथा पानी आदि मदिरा के अंगों में मद उत्पन्न करने वाली शक्ति का अंश पृथक् होता है परन्तु शरीर के अवयवों में चैतन्य शक्ति पृथक् नहीं होती। भावार्थ-आटा आदि मदिरा के कारणों कों पृथक्-पृथक् कर देने पर भी उनमें जिस प्रकार मादक शक्ति का कुछ अंश बना रहता है। उस प्रकार शरीर के अंगों को पृथक्-पृथक् करने पर उनमें चैतन्य शक्ति का कुछ अंश नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि चैतन्य शरीर के अंगों का धर्म नहीं है, किन्तु उनसे पृथक् द्रव्य है।

जो पृथिवी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति मानते हैं उनके मत में बालू आदि से तेल की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति क्यों नहीं मान ली जाती है ?

जिस प्रकार बालू आदि से तेल की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह जीव इस संसार में अनादि निधन है, निजकर्म से परवश हुआ यह यहाँ दूसरी गति से आता है और कर्म के परवश हुआ दूसरी गति को जाता है। जितना यह प्रत्यक्ष गोचर दिखाई देता है इतना ही जीव है - अतीत-अनागत काल में इसकी सन्तति नहीं चलती इत्यादि कथन निज-पर का अहित करने वाले जीवों का ही विरुद्ध कथन है। क्षण

क्षण में जो संविद् (ज्ञान) उत्पन्न होता है उतना ही आत्मा है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि संवित्ति को क्षणिक मान लेने पर आगे-पीछे की कड़ी जोड़ने वाली बुद्धि का लोप हो जायेगा और उसके लोप होने पर लेने-देने तथा कर्ता-कर्म आदि व्यवहार का ही लोप हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि यह जीव स्वयं द्रव्यरूप है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, कर्मों का नाश करने वाला है, उत्पाद-व्ययरूप है, सदा गुणों से सहित है, असंख्यात प्रदेशी है, संकोच विस्तार रूप है, अपने शरीर प्रमाण है और वर्णादि बीस गुणों से रहित है। न यह आत्मा सावाँ के कण के बराबर है, न आकाश के बराबर है, न परमाणु के बराबर है, न अंगूठा के पोरा के बराबर है, और न पाँच सौ योजन प्रमाण है। यदि आत्मा को सौँवाके कण, अंगुष्ठपर्व अथवा परमाणु के समान छोटा माना जायेगा तो आत्मा प्रत्येक शरीर में उसके खण्ड-खण्ड रूप प्रदेशों के साथ ही रह सकेगा, समस्त प्रदेशों के साथ नहीं और इस दशा में जहाँ आत्मा न रहेगा वहाँ की स्पर्शन इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकेगी। जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ शरीर के किसी निश्चित स्थान में ही कार्य कर सकती है उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय भी जहाँ आत्मा होगा वही कार्य कर सकेगी सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार आत्मा का परिमाण यदि शरीर से अधिक माना जायेगा तो अनेकों योजनों तक जहाँ कि शरीर नहीं है मात्र आत्मा के प्रदेश है, वहाँ सब और क्या पदार्थ का स्पर्शन होने लगेगा ? और इस दशा में जिस प्रकार चक्षु के द्वारा योजनों की दूरी तक पदार्थों का अवलोकन होता है उसी प्रकार योजनों की दूरी तक पर्दार्थ का स्पर्शन भी होने लगेगा और ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से विरोध आता है इसलिए शरीर के प्रमाण ही आत्मा को मानना चाहिए। सबका अनुभव भी इसी प्रकार का है। वह जीव गति, इन्द्रिय, छह काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन, संज्ञित्व, भव्यत्व और आहार इन चौदह मार्गणाओं से खोजा जाता है तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुण स्थानों से उसका कथन किया गया है। प्रमाण, नय, निष्केप, सत्, संख्या और निर्देश आदि से संसारी जीव का तथा अनन्त ज्ञान आदि आत्मगुणों से मुक्त जीव का निश्चय करना चाहिए। वस्तु के अनेक स्वरूप

हैं उनमें से किसी एक निश्चित स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है। इसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो भेद हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय यथार्थ है और पर्यायार्थिक नय अयथार्थ है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये ही दो मूल नय हैं तथा दोनों ही परस्पर सापेक्ष माने गये हैं। अच्छी तरह देखे गये नैगम, संग्रह आदि नय इन्हीं दोनों नयों के भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत ये सात नय हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं और वे सामान्य को विषय करते हैं तथा अवशिष्ट चार नय पर्यायार्थिक नय के भेद हैं और विशेष को विषय करते हैं। पदार्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम नय कहलाता है। प्रस्थ तथा ओदन आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

जो नय अनिष्पन्न पदार्थ के संकल्पमात्र को विषय करता है वह नैगम नय कहलाता है, जैसे कोई प्रस्थ की लकड़ी लेने के लिए जा रहा है उससे कोई पूछता है कि कहाँ जा रहे हो, तो वह उत्तर देता है कि प्रस्थ लेने जा रहा हूँ यद्यपि जंगल में प्रस्थ नहीं मिलता है वहाँ से लकड़ी लाकर प्रस्थ बनाया जाता है तथापि नैगम नय संकल्पमात्र का ग्राहक होने से ऐसा कह देता है कि प्रस्थ लेने के लिए जा रहा हूँ। इसी प्रकार कोई ओदन (भात) बनाने के लिए लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी कर रहा है उस समय कोई पूछता है कि क्या कर रहे हो? तो वह उत्तर देता है कि ओदन बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह ओदन नहीं बना रहा है तथापि उसका संकल्प है इसलिए नैगम नय ऐसा कह देता है कि ओदन बना रहा हूँ। अनेक भेद और पर्यायों से युक्त पदार्थ को एकरूपता प्राप्त कराकर समस्त पदार्थ का ग्रहण करना संग्रह नय है; जैसे सत् अथवा द्रव्य।

संसार के पदार्थ अनेक रूप हैं उन्हें एकरूपता प्राप्त कराकर सत् शब्द से कहना। इसी प्रकार जीव, अजीव आदि अनेक भेदों ने युक्त पदार्थों को 'द्रव्य' इस सामान्य शब्द से कहना यह संग्रह नय है।

संग्रह नय के विषयभूत सत्ता आदि पदार्थों के विशेष रूप से भेद करना व्यवहार नय है, क्योंकि व्यवहार नय सत्ता के भेद करता-करता उसे अन्तिम

भेद तक ले जाता है।

जैसे संग्रह नय से जिस सत् को ग्रहण किया था व्यवहार नय कहता है कि वह सत्, द्रव्य और गुण के भेद से दो प्रकार का है अथवा संग्रह नय ने जिस द्रव्य को विषय किया था व्यवहार नय कहता है कि उस द्रव्य के जीव और अजीव के भेद से दो भेद हैं। इस प्रकार यह नय पदार्थ में वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ तक भेद करना सम्भव है।

पदार्थ की भूत-भविष्यत् पर्याय को वक्र और वर्तमान पर्याय को ऋजु कहते हैं। जो नय पदार्थ की भूत-भविष्यतरूप वक्र पर्याय को छोड़कर सरल सूत्रपात के समान मात्र वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है।

इसके सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो भेद हैं। जीवों की समय-समय में होने वाली पर्याय को ग्रहण करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का विषय है और देव, मनुष्य आदि बहुसमयव्यापी पर्याय को ग्रहण करना स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है। यौगिक अर्थ का धारक होने से शब्द नय, लिंग, साधन-कारक, संख्या-वचन, काल और उपग्रह पद के व्यभिचार को नहीं चाहता अर्थात् लिंग, संख्या आदि के भेद से होने वाले दोष को वह सदा दूर करता है। वह व्याकरण शास्त्र के आधीन रहता है।

जैसे लिंग व्यभिचार-'पुष्यस्तारका नक्षत्रम्' यहाँ पुलिंग पुष्य का स्त्रीलिंग तार का अथवा नपुंसक, लिंग नक्षत्र के साथ सम्बन्ध हो जाता है। लिंगभेद होने पर भी विशेषण-विशेष्य भाव में अन्तर नहीं आता। साधनव्यभिचार-साधन कारक को कहते हैं, इसका उदाहरण 'सेना पर्वतमधिवसति' है। यहाँ पर्वत शब्द अधिकरणकारक है अतः उसमें सामान्य नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति में आना चाहिए तथापि अधिउपसर्गपूर्वक वस् धातु का प्रयोग होने से कर्मकारक में आने वाला द्वितीया विभक्ति हो गयी फिर भी अर्थ अधिकरणकारक के अनुसार ही - 'सेना पर्वत पर रहती है' होता है। संख्याव्यभिचार-संख्या वचन को कहते हैं, इसके उदाहरण हैं 'जलमापो, वर्षा-ऋतुः, आग्राः वनम्, वरणाः नगरम्' यहाँ पर 'जलम्' एकवचन है फिर भी उसका पर्याय 'आपः'

यह नित्य बहुवचनान्त शब्द दिया जा सकता है। 'वर्षा:' बहुवचन है और ऋतुः एकवचन है फिर भी इनका विशेष्य विशेषण भाव हो सकता है। इसी प्रकार शेष उदाहरण भी समझ लेना-चाहिए। कालव्यभिचार-भूत, भविष्यत और वर्तमान के भेद से काल के तीन भेद हैं इनमें परस्पर विरुद्ध कालों का भी प्रयोग होता है जैसे 'विश्वदश्वास्य पुत्रो जनिता' यह उदाहरण है। यहां विश्वदश्वा का अर्थ होता है 'विश्वं दृष्टवान्' इति विश्वदश्वा-जिसने विश्व को देख लिया। परन्तु यहाँ पर विश्वदश्वा इस भूतकालिक कर्म का जनिता इस भविष्यतकालिक क्रिया के साथ सम्बंध जोड़ा गया है।

उपग्रहव्यभिचार- आत्मनेपद, परस्मैपद आदि पदों को उपग्रह कहते हैं। शब्दनय परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद और आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद के प्रयोग को जो कि व्याकरण के अनुसार होता है स्वीकृत कर लेता है। जैसे तिष्ठति, संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, रमते, विरमति, उपरमति आदि। यहाँ 'तिष्ठति' में परस्मैपद का प्रयोग होता है परन्तु सम् और प्र उपसर्ग लग जाने से संतिष्ठते तथा प्रतिष्ठते में आत्मनेपद हो गया। 'रमते' यह आत्मनेपद का प्रयोग है परन्तु वीरमति में वी उपसर्ग और 'उपरमति' में उप लिंगादि के उपसर्ग लग जाने से परस्मैपद प्रयोग हो जाता है। व्यभिचार के समान शब्दनय पुरुष व्यभिचार को भी नहीं मानता जैसे 'एहि मन्ये रथेनयास्यति, नहि यास्यति, यातस्ते पिता'- यहाँ पर 'मन्य से' इस मध्यमपुरुष के बदले हास्य में 'मन्ये' इस उत्तमपुरुष का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि शब्दनय व्याकरण के नियमों के आधीन है, अतः वह सामान्य नियमों के विरुद्ध प्रयोग होने से आने वाले दोष को स्वीकृत नहीं करेगा।

जो शब्दभेद होने पर अर्थभेद स्वीकृत करता है अर्थात् एक पदार्थ के लिए अनेक पर्यायात्मक शब्द प्रयुक्त होने पर उनके पृथक्-पृथक् अर्थ को स्वीकृत करता है वह समभिरुद्धनय है, जैसे लोक में देवेन्द्र के लिए इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द का प्रयोग आता है परन्तु समभिरुद्धनय इन सबके पृथक्-पृथक् अर्थ को ग्रहण करता है। वह कहता है कि जो परम् ऐश्वर्य का अनुभव करता है वह इन्द्र है, जो शक्तिसम्पन्न है वह शक्र है और जो पुरों का विभाग करने वाला है वह पुरन्दर है, इसलिए इन भिन्न

भिन्न पर्याय शब्दों से सामान्य देवेन्द्र का ग्रहण न कर उसकी भिन्न-भिन्न विशेषताओं को ग्रहण करता है। अथवा जो नाना अर्थों का उल्लंघन कर एक अर्थ को मुख्यता से ग्रहण करता है वह समभिरुद्धनय है, जैसे गौ शब्द कोश में वचन आदि अनेक अर्थों में प्रसिद्ध है किन्तु लोक में वह अधिकता से पशु अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। अथवा जो शब्द के निरुक्त-प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से सिद्ध होने वाले अर्थ को न मानकर उसके चालू वाच्यार्थ को ही माना है वह समभिरुद्धनय है, जैसे गौ शब्द का निरुक्त अर्थ गच्छतीति गौः जो चले वह है, परन्तु लोक में इस अर्थ की उपेक्षा कर पशु विशेष को गौ कहते हैं, वह चलती हो तब भी गौ है और बैठी या खड़ी हो तब भी गौ है।

जो पदार्थ जिस क्षण में जैसी क्रिया करता है उसी क्षण में उसका उस रूप कहना, अन्य क्षण में नहीं, यह एवंभूतनय है। यह नय पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता है जैसे 'इन्द्रीति इन्द्रः' जिस समय इन्द्र ऐश्वर्य का अनुभव करता है उसी समय इन्द्र कहलाता है अन्य समय में नहीं।

द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ हैं। ये सातों नय प्रत्येक शक्ति के भेदों को स्वीकृत करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म पदार्थ को ग्रहण करते हैं। इन नयों में कितने ही नय अर्थप्रधान हैं और कितने ही शब्दप्रधान हैं, इसलिए प्रारम्भ से लेकर शब्दनय तक पाँच प्रकार के नय और संग्रह को आदि लेकर अन्त तक छह प्रकार के नय अर्थात् नैगमादि सातों नयों में प्रत्येक सैकड़ों प्रकार के हैं। क्योंकि जितने वचन के मार्ग भेद हैं उतने नय हैं इसलिए नय इतने हैं। इस प्रकार यथार्थ में नयों की संख्या निश्चित नहीं है।

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पाँचों तत्व हैं तथा सम्यग्दर्शन के विषयभूत हैं। इनमें से धर्म और अधर्म द्रव्य क्रम से गति और स्थिति के निमित्त हैं अर्थात् धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में निमित्त है तथा अधर्म में द्रव्य उन्हीं की स्थिति में निमित्त है। आकाश, जीव और अजीव दोनों द्रव्यों के अवगाह में निमित्त है।

पुद्गल द्रव्य पूरण गलन क्रिया करता हुआ वर्णादि अनेक गुणों से

युक्त है। उसके दो भेद हैं, स्कन्ध और परमाणु। बहुत से परमाणुओं के संयोग से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध में भेद होते-होते परमाणु की उत्पत्ति होती है। जो वर्तना लक्षण से सहित है वह काल द्रव्य है। इसके समय आदि अनेक भेद है। परिवर्तनरूप धर्म से सहित होने के कारण काल द्रव्य प्रत्यक्ष और परत्व व्यवहार से युक्त है।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। वह योग ही आस्रव कहलाता है। उसके शुभ और अशुभ के भेद से दो भेद हैं। उनमें शुभयोग शुभास्रव का और अशुभयोग अशुभास्रव का कारण है। आस्रव के स्वामी दो हैं—सकषाय (कषाय सहित) और अकषाय (कषाय रहित) इसी प्रकार आस्रव के दो भेद हैं— साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव। मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सूक्ष्मकषाय गुणस्थान तक के जीव सकषाय हैं और वे प्रथम साम्परायिक आस्रव के स्वामी हैं तथा उपशान्तकषाय को आदि लेकर संयोगकेवली तक के जीव अकषाय हैं और ये अन्तिम ईर्यापथ आस्रव के स्वामी हैं (चौदहवें गुण स्थानवर्ती अयोग केवली भी अकषाय है परन्तु उनके योग का अभाव हो जाने से आस्रव नहीं होता) पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, हिंसा आदि पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाएँ ये साम्परायिक आस्रव के द्वारा हैं। इनमें पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय और पाँच अव्रत प्रसिद्ध हैं, अतः इन्हें छोड़कर पच्चीस क्रियाओं का स्वरूप कहते हैं। प्रतिमा, शास्त्र, अर्हन्त देव तथा सच्चे गुरु आदि की पूजा, भक्ति आदि करना सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व क्रिया है। पाप के उदय से अन्य देवताओं की स्तुति आदि में प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली मिथ्यात्व क्रिया है। गमनागमनादि में प्रवृत्ति करना सो प्रायः असंयम को बढ़ाने वाली प्रयोग क्रिया है। संयमी पुरुष का प्रायः असंयम की ओर समुख होना प्रमाद को बढ़ाने वाली समादान क्रिया है। जो क्रिया ईर्यापथ में निमित्त है वह ईर्यापथ क्रिया है। ये पाँच क्रियायें साम्परायिक आस्रव की हेतु हैं।

क्रोध के आवेश से जो क्रिया होती है वह प्रादोषिकी क्रिया है। दोष से भरा मनुष्य जो अधम करता है वह कायिकी क्रिया है। हिंसा के उपकरण शस्त्र आदि के ग्रहण से जो क्रिया होती है वह क्रियाधिकरणीय क्रिया स्व-पर

को दुःख उत्पन्न करने वाली पारितापिकी क्रिया है। इन्द्रिय, आयु और बल प्राण का वियोग करने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी है। ये पाँच आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं। चित्त के राग से आद्र हो जाने के कारण जब उत्तम पुरुष प्रमादी बन किसी सुन्दर रूप के देखने की अभिलाषा करता है तब उसके दर्शन क्रिया होती है। वही मनुष्य जब अत्यधिक प्रमादी बन स्पर्श करने योग्य पदार्थ का बार-बार चिन्तन करता है तब कर्म बन्ध में कारणभूत स्पर्शन क्रिया होती है। पाप के नये-नये कारण उत्पन्न करने से पाप का आस्रव करने वाली जो क्रिया होती है वह प्रत्यायिकी क्रिया कही गयी है। स्त्री, पुरुष और पशुओं के मिलने जुलने आदि के योग्य स्थान पर शरीर सम्बन्धी मल-मूत्रादि को छोड़ना समन्तानुपातिनी क्रिया है। यह क्रिया साधुजनों के अयोग्य है। बिना शोधी, बिना देखी भूमि पर शरीरादि का रखना अनाभोग क्रिया है। ये पाँचों ही क्रियाएँ दुष्क्रियाएँ कहलाती हैं। दूसरों के द्वारा करने योग्य क्रिया को स्वयं अपने हाथ से करना यह पूर्वोक्त आस्रव को बढ़ाने वाली स्वहस्तक्रिया है। पापोत्पादक वृत्तियों को स्वयं अच्छा समझना निर्सर्ग क्रिया है, यह स्वभाव से ही आस्रव को बढ़ाने वाली है। दूसरों के द्वारा आचरित पाप पूर्ण क्रियाओं को प्रगट करना यह दूसरे की बुद्धि को विदारण करने वाली विदारण क्रिया है। आगम की आज्ञा के अनुसार आवश्यक आदि क्रियाओं के करने में असमर्थ मनुष्य का मोह के उदय से उनका अन्यथा निरुपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। अज्ञान तथा आलस्य के सहित होने के कारण शास्त्रोक्त विधियों के करने में अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है, इस प्रकार ये पाँच क्रियाएँ हैं।

दूसरों के द्वारा किये जाने वाले आरम्भ में प्रमादी होकर स्वयं हर्ष मानना अथवा छेदन-भेदन आदि क्रियाओं में अधिक तत्पर रहना प्रारम्भ क्रिया है। परिग्रह में तत्पर जो क्रिया है वह पारिग्राहिकी क्रिया है ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में जो छलपूर्ण प्रवृत्ति है वह माया क्रिया है। प्रोत्साहन आदि के द्वारा दूसरे को मिथ्यादर्शन के प्रारम्भ करने तथा उसके दृढ़ करने में तत्पर जो क्रिया है वह मिथ्यादर्शन क्रिया है। कर्मोदय के वशीभूत होने से पाप से निवृत्ति नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है। इस प्रकार आस्रव को

बढ़ाने वाली ये पाँच क्रियाएँ हैं। इस प्रकार पाँच-पाँच के पच्चीस क्रियाओं का वर्णन किया।

जीवों के परिणाम मन्द, मध्य और तीव्र होते हैं इसलिए हेतु में भेद होने से आस्व भी मन्द, मध्यम और तीव्र होते हैं। जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण के भेद से आस्व के दो भेद हैं। जीवाधिकरण आस्व के मूल में तीन भेद हैं—(1) संरम्भ (2) समारम्भ और आरम्भ। इनमें से प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना—तीन मनोयोग, वचनयोग, काययोग तीन और क्रोध, मान, माया लोभरूप कषाय—चार इनसे परस्पर गुणित होने पर छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। तीनों के मिलाकर एक सौ आठ भेद हो जाते हैं।

किसी कार्य के करने का मन में विचार करना संरम्भ है। उसके साधन जुटाना समारम्भ है और कार्यरूप में परिणत करना आरम्भ है। स्वयं कार्य करना कृत है, दूसरों से कराना कारित है और कोई करे उसमें हर्ष मानना अनुमति है। मन से किसी कार्य का विचार करना मनोयोग है, वचन से प्रकट करना वचनयोग है और काय से कार्य करना काययोग है। क्रोध कषाय से प्रेरित हो किसी कार्य को करना क्रोध कषाय है, मान से प्रेरित हो करना मान कषाय है, माया से प्रेरित हो करना माया कषाय है। और लोभ से प्रेरित होकर करना लोभ कषाय है। मूल में संरम्भ आदि के भेद से आस्व तीन प्रकार का होता है, इनमें से प्रत्येक का भेद कृत, कारित अनुमोदन की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है, फिर भी यही तीन भेद, तीन योग के निमित्त से होते हैं, इसलिए तीन का तीन में गुणा करने पर नौ भेद होते हैं। तदनन्तर यही नौ भेद क्रोधादि कषाय की अपेक्षा चार-चार प्रकार के होते हैं इसलिए नौ में चार का गुणा करने पर छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस भेद संरम्भ के, छत्तीस समारम्भ के और छत्तीस आरम्भ के, तीनों को मिलाकर एक सौ आठ भेद होते हैं। अथवा दूसरी तरह से संरम्भादि तीनों में कृत, कारितादि का गुणा करने पर नौ भेद हुए। उनमें तीन योग का गुणा करने पर सत्ताईस हुए और उसमें क्रोधादि चार कषाय का गुणा करने पर एक सौ आठ भेद होते हैं। ये सब परिणाम जीवकृत हैं अतः इन्हें जीवाधिकरण

आस्व कहते हैं। दो प्रकार की निर्वत्तना, चार प्रकार का निष्ठेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निष्ठर्ग ये अजीवाधिकरण आस्व के भेद हैं। मूलगुण निर्वत्तना और उत्तरगुण निर्वत्तना के भेद से निर्वत्तना के दो भेद हैं। शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास आदि रचना होना मूलगुण निर्वत्तना हैं और काष, पाषाण, मिठ्ठी आदि से वित्राम आदि का बनाना उत्तरगुण निर्वत्तना है। सहसानिष्ठेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्ट निष्ठेपाधिकरण, अनाभोग निष्ठेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षित निष्ठेपाधिकरण इन चार भेदों से निष्ठेपाधिकरण चार प्रकार का होता है। शीघ्रता से किसी वस्तु को रख देना सहसानिष्ठेप है। दुष्टापूर्वक साफ की हुई भूमि में किसी वस्तु को रखना दुष्प्रमृष्ट निष्ठेप है। अव्यवस्था के साथ चाहे जहां किसी वस्तु को रख देना अनाभोग निष्ठेप है और बिना देखी-शोधी भूमि में कि वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षित निष्ठेप है। भक्तपान संयोग और उपकरण संयोग के भेद से संयोगाधिकरण आस्व दो प्रकार का कहा गया है। भोजन और पान को अन्य भोजन तथा पान में मिलाना भक्तपान संयोग है तथा बिना विवेक के उपकरणों का परस्पर मिलाना उपकरण संयोग है जैसे शीतस्पर्शयुक्त पीछी से धाम में सन्तास कमण्डलु का सहसा पोंछना आदि। बाडनिसर्ग, मनोनिसर्ग और काय निसर्ग के भेद से निसर्गाधिकरण आस्व तीन रूपता को प्राप्त होता है। वचन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को मनोनिसर्ग कहते हैं और काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को काय निसर्ग कहते हैं। इस प्रकार यह सामान्य रूप से कर्मसिवों का भेद कहा। अब ज्ञानावरणादि के भेद से युक्त विशिष्ट कर्मों के आस्व का भेद कहा जाता है। ज्ञान के विषय में किये हुए प्रदोष, निष्ठाव, आदान, विघ्न, आसादन और दूषण ज्ञानावरण के आस्व हैं और दर्शन के विषय में किये हुए प्रदोष आदि दर्शनावरण के आस्व हैं। मोक्ष के साधनभूत तत्त्वज्ञान का निरूपण होने पर कोई मनुष्य-चुपचाप बैठा है परन्तु भीतर ही भीतर उसका परिणाम, कलुषित हो रहा है इसे प्रदोष कहते हैं। किसी कारण से 'मेरे पास नहीं है' अथवा 'मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि रूप से ज्ञान को छिपाना निष्ठाव है। मात्सर्य के कारण देने योग्य ज्ञान भी दूसरे को नहीं देना सो आदान है। ज्ञान में अन्तराय डाल देना विघ्न है। दूसरों के द्वारा प्रकाश

में आने योग्य ज्ञान को काय और वचन से रोक देना आसादन है और प्रशस्त ज्ञान में दोष लगाना दूषण है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—(1) असातावेदनीय (2) सातावेदनीय। इनमें से निज, पर और दोनों के विषय में होने वाले दुःख, शोक, वध, आक्रन्दन, ताप और परिदेवन ये असातावेदनीय के आस्व हैं। पीड़ारूप परिणाम को दुःख कहते हैं। अपने उपकारक पर्दाथों का सम्बन्ध नष्ट हो जाने पर परिणामों में विकलता उत्पन्न होना शोक है। आयु, इन्द्रिय तथा बल आदि प्राणों का वियोग करना वध है। सन्ताप आदि के कारण अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है। लोक में अपनी निन्दा आदि के फैल जाने से हृदय में तीव्र पश्चाताप होना ताप है। और उपकारी का वियोग होने पर उसके गुणों का स्मरण तथा कीर्तन करते हुए इसी तरह विलाप करना जिससे सुनने वाले दयार्द्र हो जावे उसे परिदेवन कहते हैं। समस्त प्राणियों पर दया करना, व्रती जनों पर अनुराग रखना, सराग संयम, दान, क्षमा, शौच, अर्हन्त भगवान की पूजा में तत्पर रहना और बालक तथा वृद्ध तपस्वियों की वैयावृत्ति आदि करना सातावेदनीय के आस्व है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म तथा देव का अवर्णवाद करना - झूठे दोष लगाना दर्शन मोहनीय कर्म के आस्व के हेतु कहे गये हैं। केवली कवलाहार से जीवित रहते हैं इत्यादि असद्भूद दोषों का निरूपण करना केवली का अवर्णवाद है।

शास्त्र में मांस भक्षण आदि निषिद्ध कार्यों का उल्लेख है इत्यादि कहना श्रुत का अवर्णवाद है। त्रृष्णि, मुनि, यति और अनगर इन चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ कहलाता है—इनके दोष कहना अर्थात् ये शरीर से अपवित्र हैं, शूद्र तुल्य हैं, नास्तिक हैं, आदि कहना संघ का अवर्णवाद है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ धर्म निर्गुण है और उसके पालन करने वाले असुर होते हैं इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है और देव मांस-मदिरा का सेवन करते हैं, इत्यादि कहना देव का अवर्णवाद है। कषाय के उदय से जो तीव्र परिणाम होता है वह चारित्र मोह के नाना प्रकार के आस्वों का कारण है। चारित्र मोहनीय के कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें से निज तथा पर को कषाय उत्पन्न कर उद्धत

वृत्ति का धारण करना तथा तपस्वीजनों के सम्यक्चारित्र में दूषण लगाना कषाय वेदनीय के आस्व हैं। धर्म का उपहास आदि करने से हास्यरूप स्वभाव का होना अर्थात् धर्म की हँसी उड़ाकर प्रसन्नता का अनुभव करना हास्य अकषाय वेदनीय का आस्व है।

दूसरों को अरति उत्पन्न करना, रति को नष्ट करना और दृष्ट स्वभाव के धारक जनों की सेवा करना रति नामक अकषायवेदनीय के आस्व हैं। अपने आपको शोक उत्पन्न करना तथा दूसरों के शोक की वृद्धि देख प्रसन्नता का अनुभव करना शोक अकषाय वेदनीय के आस्व हैं। दूसरों को भय उत्पन्न करना तथा अपने भय की चिन्ता करना भय अकषाय वेदनीय के आस्व है। उत्तम आचरण करने वाले मनुष्यों के आचार में ग्लानि करना तथा उसकी निन्दा करना जुगुप्सा अकषाय वेदनीय का आस्व है। दूसरों को धोखा देने में अत्यधिक तत्पर रहना, असत्य, बोलना तथा राग की अधिकता होना स्त्री अकषाय वेदनीय के आस्व है। नम्रता से सहित होना, क्रोध की न्यूनता होना और अपनी स्त्री में सन्तोष रखना ये संसार में पुंवेद अकषायवेदनीय के आस्व माने गये हैं। कषायों की प्रचुरता होना, गुह्य अंगों का छेदन करना तथा परस्त्री में आसक्ति रखना ये नपुंसक अकषाय वेदनीय के आस्व हैं।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायु के आस्व है। मायाचार तिर्यच आयु का आस्व है। थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखने से मनुष्य आयु का आस्व होता है। सन्तोष धारण करते हुए अवृत अवस्था होना तथा स्वभाव से कोमल परिणामी होना भी मनुष्यायु के आस्व है। सम्यग्दर्शन, व्रतीपना, बालतप तथा अकामनिर्जरा ये देवायु के आस्व हैं।

अपने योगों की कुटिलता और दूसरों के साथ विशेषाद ये अशुभ नामकर्म के आस्व हैं। और अपने योगों की सरलता तथा विशेषाद का अभाव होना शुभ नाम का आस्व है। नामकर्म का विशेष भेद जो तीर्थकर प्रकृति है उसके आस्व, अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ हैं। दूसरों के विद्यमान गुणों को छिपाना, अपनी प्रशंसा करना तथा अपने अविद्यमान गुणों का कथन करना ये नीचगौत्र कर्म के आस्व हैं।

विनयपूर्ण प्रवृत्ति करना तथा अहंकार नहीं करना उच्चगौत्र के आस्त्र
हैं और दान आदि में विघ्न करना अन्तरायकर्म के आस्त्र हैं।

पुण्यकर्म का जो शुभास्त्र होता है उसका सामान्य रूप से वर्णन ऊपर
किया जा चुका है। अब उसकी विशेष प्रतीति के लिए यह प्रतिपादन किया
जा रहा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह इन पाँच पापों से
विरक्त होना सो व्रत है। वह व्रत अणुव्रत और महाव्रत के भेद से दो प्रकार
का है। उक्त पापों से एकदेश विरत होना अणुव्रत है और सर्वदेश विरत
होना महाव्रत है। महाव्रत और अणुव्रत से युक्त मनुष्यों को अपने व्रत में
स्थिर रखने के लिए उक्त पाँचों व्रतों में प्रत्येककी पाँच-पाँच भावनाएँ कही
जाती हैं।

सम्यक् वचनगुप्ति, सम्यग्मनोगुप्ति, भोजन के समय देखकर भोजन करना
(आलोकितपान भोजन), ईर्या-समिति और आदान निषेपण समिति ये पाँच
अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं। अपने क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग
करना तथा प्रशस्त वचन बोलना (अनुवीचिभाषण) ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ
हैं। शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद
ये पाँच अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं। स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग, अर्थात् स्त्रियों
में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, उनके मनोहर अंगों
के देखने का त्याग करना, शरीर की सजावट का त्याग करना, गरिष्ठ रस
का त्याग करना एवं पूर्व काल में भोगे हुए रति के स्मरण का त्याग करना
ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं। पंच इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में
यथायोग्य रागद्वेष का त्याग करना ये पाँच अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं।
बुद्धिमान मनुष्यों को व्रतों की स्थिरता के लिए यह चिन्तवन भी करना चाहिए
कि हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में नाना प्रकार के कष्ट
और पाप बन्ध होता है। अथवा नीति के जानकार पुरुषों को निरन्तर ऐसी
भावना करनी चाहिए कि ये हिंसा आदि दोष दुःख रूप ही है। यद्यपि ये
दुःख के कारण हैं दुःखरूप नहीं परन्तु कारण और कार्य में अभेद विवक्षा
से ऐसा चिन्तवन करना चाहिए। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये
चार भावनाएँ क्रम से प्राणी-मात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनय जीवों में

करना चाहिए।

किसी जीव को दुःख न हो ऐसा विचार करना 'मैत्री भावना' है। अपने
से अधिक गुणी मनुष्यों को देखकर हर्ष प्रकट करना 'प्रमोद भावना' है।
दुःखी मनुष्यों को देखकर हृदय में दयाभाव उत्पन्न होना 'करुणा भावना'
है और अविनेय मिथ्यादृष्टि जीवों में मध्यस्थ भाव रखना 'माध्यस्थ भावना'
है। अपनी आत्मा में संवेग और वैराग्य उत्पन्न करने के लिए संसार से भयभीत
रहने वाले विचारक मनुष्यों को सदा संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तवन
करना चाहिए।

इस संसार में प्राणियों के लिए यथासम्भव इन्द्रिया दश प्राण प्राप्त
हैं। प्रमादी बनकर उनका विच्छेद करना सो हिंसा पाप है। प्राणियों के दुःख
का कारण होने से प्रमादी मनुष्य जो किसी के प्राणों का वियोग करता है
वह अर्धम् का कारण है—पापबन्ध का निमित्त है परन्तु समितिपूर्वक प्रवृत्ति
करने वाले प्रमाद रहित जीव के कदाचित् यदि किसी जीव के प्राणों का
वियोग हो जाता है तो वह उसके लिए बन्ध का कारण नहीं होता है। प्रमादी
आत्मा अपनी आत्मा के अपने-आपके द्वारा पहले घात कर लेता है पीछे
दूसरे प्राणियों का बध होता भी है और नहीं भी होता है। विद्यमान अथवा
अविद्यमान वस्तु को निरुपण करने वाला प्राणी-पीड़ा कारक वचन असत्य
तथा अनृत वचन कहलाता है। इसके विपरीत जो वचन प्राणियों का हित
करने वाला है वह त्रृत अथवा सत्यवचन कहलाता है। बिना दी हुई वस्तु
का स्वयं ले लेना चोरी कही जाती है। परन्तु जहाँ संक्लेश परिणामपूर्वक
प्रवृत्ति होती है वहीं चोरी होती है। जिसमें अहिंसादि गुणों की वृद्धि हो वह
वास्तविक ब्रह्मचर्य है। इससे विपरीत सम्भोग के लिए स्त्री-पुरुषों की जो
चेष्टा है वह अब्रह्म है। गाय, घोड़ा, मणि, मुक्ता आदि चेतन, अचेतनरूप,
बाह्य धन में तथा रागादिरूप अन्तरंग विकार में ममताभाव रखना परिग्रह
है। यह परिग्रह छोड़ने योग्य है। इन हिंसादि पाँच पापों से विरत होना सो
अहिंसा आदि पाँच व्रत है। ये व्रत महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार
के हैं तथा जिसके ये होते हैं वह व्रती कहलाता है। व्रत का सम्बन्ध रहने
पर भी जो निःशल्य होता है वही व्रती माना गया है। माया, निदान और

मिथ्यात्व के भेद से शल्य तीन प्रकार की है। यह शल्य, शल्य अर्थात् काँटों के समान दुःख देने वाली है।

सागार और अनगार के भेद से ब्रती दो प्रकार के माने गये हैं। इनमें अणुव्रतों के धारी सागार कहलाते हैं और महाव्रतों के धारक महाव्रती कहे जाते हैं। जो मनुष्य राग-भाव में स्थित है वह किसी तरह वन में रहने पर भी सागार-ग्रहस्थ है और जिसका रागभाव दूर हो गया है वह घर में रहने पर भी अनगार है। त्रस और स्थावर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। इनमें से त्रसकायिक जीवों के विघात से विरत होना पहला अहिंसाणुव्रत कहा गया है। जिसमें राग, द्वेष, मोह से प्रेरित हो पर पीड़िकारक असत्य वचन से विरति होती है वह दूसरा सत्याणुव्रत है। दूसरे का गिरा-पड़ा या भुला हुआ द्रव्य चाहे अधिक हो चाहे थोड़ा, बिना दी हुई दशा में उसको नहीं लेना तीसरा अचौर्याणुव्रत है। परस्त्रियों में राग छोड़कर अपनी स्त्रियों में ही जो सन्तोष होता है वह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है। सुवर्ण, दास, गृह तथा खेत आदि पदार्थों का बुद्धिपूर्वक परिमाण कर लेना इच्छापरिमाण नाम का पाँचवाँ अणुव्रत है।

पाँच अणुव्रतों के धारक सदगृहस्थ के तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी होते हैं। दिशाओं और विदिशाओं में प्रसिद्ध चिन्हों द्वारा की हुई अवधि का उल्लंघन नहीं करना सो दिग्व्रत नाम का पहला गुणव्रत है। दिग्व्रत के भीतर यावज्जीवन के लिए किये हुए बृहत्त परिमाण के अन्तर्गत कुछ समय के लिए जो ग्राम-नगर आदि की अवधि की जाती है उससे बाहर नहीं जाना सो देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत है। पापोपदेश, अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसादान और दुःश्रुति ये पाँच प्रकार के अनर्थदण्ड हैं। जो पाप के उपदेश का कारण है वह अपकार करने वाला अनर्थदण्ड है उससे विरत होना सो अनर्थदण्ड-त्याग नाम का तीसरा गुणव्रत है। वणिक तथा वधक आदि के सावध कार्यों में आरम्भ करने वाले जो पाप पूर्ण वचन है वह पापोपदेश अनर्थदण्ड है। अपनी जय, दूसरे की पराजय तथा वध, बन्धन एवं धन का हरण आदि किस प्रकार हो ऐसा चिन्तन करना सो अपध्यान है। वृक्षादिक का छेदना, पृथ्वी का कूटना, पानी का सींचना आदि अनर्थक कार्य करना

प्रमादाचरित नाम का अनर्थदण्ड है। विष, कण्टक, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, दण्ड तथा कोड़ा आदि के हिंसा के उपकरणों का देना सो हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है। हिंसा तथा रागादि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं के सुनने तथा दूसरों को शिक्षा देने में जो पाप बन्ध के कारण एकत्रित होते हैं वह पाप से युक्त दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है।

देवता के स्मरण में स्थित पुरुष के सुख-दुःख तथा शत्रु-मित्र आदि में जो माध्यस्थ भाव की प्राप्ति है उसे सामायिक नाम का पहला शिक्षाव्रत जानना चाहिए। दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चार पर्व के दिनों में निरारम्भ रहकर चार प्रकार के आहार का त्याग करना सो प्रोष्ठोपवास नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है। जिसमें इन्द्रियाँ ब्राह्म-संसार से हटकर आत्मा के समीप वास करती हैं वह उपवास कहलाता है। गन्ध, माला, अन्न, पान आदि उपभोग हैं और आसन आदिक परिभोग हैं। पास जाकर जो भोग जाता है वह उपभोग कहलाता है और जो एक बार भोगकर छोड़ दिया जाता है तथा पुनः भोगने में आता है वह परिभोग कहलाता है। जिसमें उपभोग तथा परिभोग का यथाशक्ति परिमाण किया जाता है वह उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है। मांस, मदिरा, मधु, जुआ, वेश्या तथा रात्रिभोजन से विरत होना एवं काम आदि जीवों का त्याग करना सो नियम कहलाता है। जो संयम की वृद्धि के लिए निरन्तर भ्रमण करता रहता है वह अतिथि कहलाता है उसे शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधि से आहार आदि देना अतिथिसंविभाग व्रत है। भिक्षा, औषध, उपकरण और आवास के भेद से अतिथि संविभाग चार प्रकार का कहा गया है। मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर बहिरंग में शरीर और अन्तरंग में कषायों का अच्छी तरह कृश करनी संल्लेखना कहलाती है। ब्रती मनुष्य को मरणान्तकाल में यह संल्लेखना अवश्य ही करनी चाहिए। जब अन्त अर्थात् मरण का किसी तरह परिहार न किया जा सके तब रागादि की अनुत्पत्ति के लिए आगमोक्त मार्ग से संल्लेखना करना उचित माना गया है।

निःशंकित आदि आठ अंगों के विरोधी शंका, कांक्षा आदि आठ दोष सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। सत्पुरुषों को इनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। पाँच अणुव्रत तथा सात शील ब्रतों में प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार होते

है। यहाँ यथाक्रम से उनका वर्णन किया जाता है। तद-तद व्रतों के धारक मनुष्यों को उन अतिचारों का अवश्य ही परिहार करना चाहिए। जीवों की गति में रुकावट डालने वाला बन्ध, दण्ड आदि से अत्यधिक पीटना-वध, कान आदि अवयवों का छेदना, अधिक भार लादना और भूख आदि की बाधा करने वाला अन्नपान का निरोध ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार कहे गये हैं। मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकार मन्त्र भेदा ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं। किसी को धोखा देना तथा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति कराने वाली क्रियाओं में दूसरों की अन्यथा प्रवृत्ति कराना मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषों की एकान्त चेष्टा को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। जो बात दूसरे ने नहीं कही है उसे उसके नाम पर स्वयं लिख देना कूटलेखक्रिया है। कोई मनुष्य धरोहर में रखे हुए धन की संख्या भूलकर उससे स्वल्प ही धन का ग्रहण करता है तो उस समय ऐसे वचन बोलना कि 'हाँ इतना ही था ले जाओ' यह न्यासापहार है। भौंह का चलना आदि चेष्टाओं से दूसरे के रहस्य को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकार मन्त्र भेद है। मर्यादा के पालक तथा आचार शास्त्र के ज्ञाता मनुष्यों को विचार कर इन अतिचारों का अवश्य ही परिहार करना चाहिए। स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिकरुपकव्यवहार ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। कृत कारित अनुमोदना से चोर को चोरी में प्रेरित करना स्तेन प्रयोग है। चोरों के द्वारा-चुराकर लायी हुई वस्तु का स्वयं खरीदना तदाहृतादान है। आक्रमणकर्ता की खरीद होने पर स्वकीय राज्य की आज्ञा का उल्लंघन कर विरुद्ध राज्य में आना-जाना, अपने देश की वस्तुएँ वहाँ ले जाकर बेचना विरुद्ध-राज्यातिक्रम नाम का अतिचार है। प्रस्थ आदि मान में भेद और तुला आदि उन्मान में भेद रखकर हीन मानोन्मान से दूसरों को देना और अधिक मानोन्मान से स्वयं लेना हीनाधिक मानोन्मान नाम का अतिचार है। कृत्रिम मिलावटदार सोना, चाँदी आदि के द्वारा दूसरों को ठगना प्रतिरूपक नाम का अतिचार है। परविवाहकरण, अनंगक्रीड़ा, ग्रहीतेत्वरिकागमन, अग्रहीतेत्वरिकागमन और कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच स्वदार सन्तोष व्रत के अतिचार हैं। प्रयत्नपूर्वक इनका परिहार करना

चाहिए। अपनी या अपने संरक्षण में रहने वाली सन्तान के सिवाय दूसरे की सन्तान का विवाह कराना पर विवाह करण है। काम सेवन के लिए निश्चित अंगों के अतिरिक्त अंगों के द्वारा काम सेवन करना अनंगक्रीड़ा है। दूसरे के द्वारा ग्रहीत व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ जाना ग्रहीतेत्वरिकागमन है। दूसरे के द्वारा अग्रहीत व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ जाना अग्रहीतेत्वरिका गमन है। और स्वस्त्री के साथ भी काम सेवन में अधिक लालसा रखना कामतीव्राभिनिवेश है। हिरण्य, सुवर्ण, वास्तु-क्षेत्र, धन-धान्य, दासी दास और कुप्य-बर्तन, चाँदी आदि को हिरण्य तथा सोना व सोने के आभूषण आदि को सुवर्ण कहते हैं। रहने के मकान को वास्तु और गेहूँ, चना आदि के उत्पत्तिस्थान को क्षेत्र कहते हैं। गाय भैंस आदि को धन तथा गेहूँ चना आदि अनाज को धान्य कहते हैं। दासी-दास शब्द का अर्थ स्पष्ट है। बर्तन तथा वस्त्र को कुप्य कहते हैं। इनके प्रमाण का उल्लंघन करना सो हिरण्यसुवर्णातिक्रम आदि अतिचार होते हैं।

अधोव्यतिक्रम, तिर्यगव्यतिक्रम, उर्ध्वव्यतिक्रम, स्मृत्यन्तराधान और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं। लोभ के वशीभूत होकर नीचे की सीमा का उल्लंघन करना अधोव्यतिक्रम है, समान धरातल की सीमा का उल्लंघन करना तिर्यगव्यतिक्रम है। ऊपर की सीमा का उल्लंघन करना उर्ध्वव्यतिक्रम है। की हुई सीमा को भूलकर अन्य सीमा का स्मरण रखना स्मृत्यन्तराधान है तथा मर्यादित क्षेत्र की सीमा बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। प्रेष्य प्रयोग, आनयन, पुद्गलक्षेप, शब्दानुपात और रूपानुपात ये पाँच देशब्रत के अतिचार हैं। मर्यादा के बाहर सेवक को भेजना प्रेष्य प्रयोग है। मर्यादा से बाहर किसी वस्तु को बुलाना आनयन है। मर्यादा के बाहर कंकड़ आदि का फेंकना पुद्गलक्षेप है, मर्यादा के बाहर अपना शब्द भेजना शब्दानुपात है और मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोगों को अपना रूप दिखाकर सचेत करना रूपानुपात है।

कन्दप, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार हैं। राग की उत्कृष्टता से हास्यमिश्रित भण्ड वचन बोलना कन्दप है। शरीर से कुचेष्टा करना कौत्कुच्य

है। आवश्यकता से अधिक बोलना मौखर्य है। प्रयोजन का विचार न रख आवश्यकता से अधिक किसी कार्य में प्रवृत्ति करना-कराना असमीक्ष्याधिकरण है और उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का निरर्थक संग्रह करना उपभोगपरिभोगनर्थक्य है। मनोयोग दुष्प्रणिधान, वचनयोग दुष्प्रणिधान, काययोग दुष्प्रणिधान अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं। मन को अन्यथा चलायमान करना मनोयोगदुष्प्रणिधान है, वचन की अन्यथा प्रवृत्ति करना-पाठ का अशुद्ध उच्चारण करना वचनयोग दुष्प्रणिधान है। काय को चलायमान करना काययोग दुष्प्रणिधान है। सामायिक के प्रति आदर वा उत्साह नहीं होना - बेगार समझकर करना अनादर है और चित्त की एकाग्रता न होने से सामायिकी की विधि या पाठ का भूल जाना अथवा कार्यान्तर में उलझकर सामायिक के समय का स्मरण नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है। बिना देखी हुई जमीन में मलोत्सर्ग करना, बिना देखे किसी वस्तु को उठाना, बिना देखी हुई भूमि में बिस्तर आदि बिछाना, चित्त की एकाग्रता नहीं रखना और व्रत के प्रति आदर नहीं रखना ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं। सचिंताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त सन्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार ये पाँच उपभोगपरिभोगपरिणाम व्रत के अतिचार हैं। सचित्त - हरि वनस्पति आदि का आहार करना सचित्ताहार है। सचित्त से सम्बन्ध रखने वाले आहार-पान को ग्रहण करना सचित्त सम्बन्धाहार है। सचित्त से मिली हुई अचित्त वस्तु का सेवन करना सचित्तसन्मिश्राहार है। गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करना अभिषवाहार है और अध्यप के अथवा अधिक पके आहार का ग्रहण करना दुष्पक्वाहार है। सचित्त निष्केप, सचित्तावरण, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रमता ये पाँच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं। हरे पत्ते आदि पर रखकर आहार देना सचितनिष्केप है। हरे पत्ते आदि से ढका हुआ आहार देना सचितावरण है। अन्य दाता के द्वारा देय वस्तु का देना परव्यपदेश है। अन्य दाताओं के गुण को नहीं सहन करना मात्सर्य है और समय उल्लंघन कर देना कालातिक्रम है। जीविताशंसा मरणाशंसा, निदान, सुखानुबन्ध और मित्रानुराग ये पाँच संल्लेखना के अतिचार हैं। क्षपक का दीनचित्त होकर अधिक समय तक

जीवित रहने की आकांक्षा रखना जीविताशंसा है। पीड़ा से घबड़ाकर जल्दी मरने की इच्छा करना मरणाशंसा है। आगमी भोगों की आकांक्षा करना निदान है। पहले भोगे हुए सुख का स्मरण रखना सुखानुबन्ध है और मित्रों से प्रेम रखना मित्रानुराग है। सम्यग्ज्ञानादि गुणों की वृद्धि आदि स्व-पर के उपकार की इच्छा से योग्य पात्र के लिए प्रासुक द्रव्य का देना त्याग कहलाता है, इसका दूसरा नाम अतिसर्ग भी है। जिस प्रकार भूमि आदि के भेद से धन्य की उत्पत्ति आदि में भेद होता है उसी प्रकार विधिद्रव्य दाता और पात्र की विशेषता से दान के फल में भेद होता है। दान के समय पड़गाहने आदि क्रियाओं में आदर या अनादर के होने से दान की विधि में भेद हो जाता है और वह फल के भेद का करने वाला हो जाता है। तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि आदि का कारण होने से देय में भेद होता है। यथार्थ में एक पदार्थ तो ऐसा है जो लेने वाले के लिए समताभाव का करने वाला होता है और दूसरा पदार्थ ऐसा है जो विषमता का करने वाला होता है। इसलिए देव द्रव्य में भेद होने से दान के फल में भी भेद होता है। कोई दाता तो ईर्ष्या, विषाद आदि दुर्गुणों से रहित होता है और कोई दाता ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से युक्त होता है। यही दाता की विशेषता है। यथार्थ में मन की गति विचित्र होती है। मोक्ष के कारणभूत दोनों के ग्रहण करनें में सत्पुरुषों के मन की शुद्धि का जो तारतम्य-हीनाधिकता है वह पात्र की विशेषता है। पुण्यास्रव अनेक कल्याणों की प्राप्ति कराने वाला होने से सुखों का कारण कहा जाता है और पापास्रव संसार के दुःखों का कारण माना जाता है। इस प्रकार आस्रव तत्व का वर्णन होने के बाद भगवान् की दिव्य ध्वनि में बन्ध तत्व का वर्णन प्रारम्भ हुआ।

आत्मपरिणामों में स्थित मिथ्यादर्शन, हिंसा आदि अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के बन्ध के कारण हैं। इनमें मिथ्यादर्शन, निसर्गज (अगृहीत) और अन्योपदेशज (गृहीत) के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्व का अश्रद्धान होता है वह निसर्गज मिथ्यादर्शन है। और परोपदेशपूर्वक होने वाले अतत्व श्रद्धान को अन्योपदेशज मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनियिक और अज्ञानी के भेद से चार

भेद हैं। इनके सिवाय एकान्त, विपरीत, विनय, अज्ञान और संशय इन निमित्तों की अपेक्षा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का भी माना जाता है। वस्तु अनके धर्मात्मक है परन्तु उसे एक धर्मरूप ही श्रद्धान करना एकान्त मिथ्यादर्शन है जैसे वस्तु नित्य ही हैं अथवा अनित्य ही है। वस्तु का जैसा स्वरूप है उससे विपरीत श्रद्धान करना सो विपरीत मिथ्यादर्शन है जैसे हिंसा में धर्म मानना, सग्रन्थवेष से मोक्ष मानना आदि। देव-अदेव, और तत्व-अतत्व का विवेक न रखकर सबको एक सा मानना तथा सबकी भक्ति करना वैनिक मिथ्यादर्शन है। हिताहित की परीक्षा-रहित अज्ञान-मूलक रुद्धिवश श्रद्धान करना सो अज्ञान मिथ्यादर्शन है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है या नहीं? अहिंसा में धर्म है या हिंसा में इस प्रकार सन्देह रूप श्रद्धान करना संशय मिथ्यादर्शन है। पाँच स्थावर और त्रस इन छह कायों के जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करना, तथा पाँच इन्द्रिय और मन को वश नहीं करना यह बारह प्रकार की अविरति है। प्रमाद अनेक प्रकार का है और नौ, नोकषायों को साथ मिलाकर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के भेद से कषाय के पच्चीस भेद हैं। सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग के भेद से वचनयोग के चार भेद हैं। तथा औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग के भेद से काययोग के पाँचभेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर योग के तेरह भेद हैं।

प्रमत संयत गुणस्थानों में आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग की भी सम्भावना रहती है इसलिए उन्हें मिलाने पर योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। ये मिथ्यादर्शनादि पाँच समस्त और व्यस्तरूप से बन्ध के कारण हैं। अर्थात् कहीं सब बन्ध के कारण है और कहीं कम। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पाँचों ही बन्ध के कारण हैं। उसके तीन गुणस्थानों में मिथ्यादर्शन को छोड़कर अन्तिम चार बन्ध के कारण हैं। संयतासंयत नामक पंचम गुणस्थान में विरति, अविरति, मिश्रित तथा प्रमाद आदि तीन कर्म बन्ध के हेतु कहे गये हैं। प्रमत्संयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती जीव के प्रमाद, कषाय और

योग ये तीन बन्ध के कारण हैं। इसके आगे चार गुणस्थानों में अर्थात् सातवें से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो बन्ध के कारण हैं। उपशान्त मोह, क्षीणमोह और संयोगकेवली इन तीन गुणस्थानों के जीवमात्र योग के निमित्त से कर्मबन्ध करते हैं। अयोग केवली भगवान् योग का भी अभाव हो जाने से कर्मों का बन्ध नहीं करते हैं।

कषाय से कलुषित जीव प्रत्येक क्षण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। वही बन्ध कहलाता है। यह बन्ध अनेक प्रकार का माना गया है। सामान्यरूप से बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार भेदों को प्राप्त होता है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है। जिस प्रकार नीम आदि की तिक्तता आदि है उसी प्रकार समस्त कर्मों की अपनी-अपनी प्रकृति नियतरूप से स्थित है। जैसे ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति अज्ञान अर्थात् पदार्थ का ज्ञान नहीं होने देना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों का आदर्शन अर्थात् दर्शन नहीं होने देना है। साता, असातावेदनीय कर्म की प्रकृति ज्ञानी मनुष्यों को क्रम से सुख और दुःख का वेदन करना है। दर्शन मोह की प्रकृतितत्व का अश्रद्धान कराना है तथा अतिशय महान् चारित्रमोह कर्म की प्रकृति सदा असंयम उत्पन्न करना है। आयुकर्म की प्रकृति भवधारण करना है। नामकर्म की प्रकृति जीव में देव, नारकी आदि संज्ञाएँ उत्पन्न करना है। गोत्र कर्म की प्रकृति उच्च और नीच व्यवहार कराना है तथा अन्तराय कर्म की प्रकृति दान आदि में तीव्र विघ्न करना है। इसलिए ऐसा लक्षण करना चाहिए कि कर्मों के द्वारा जो किया जाता है वही प्रकृतिबन्ध है और उनका अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना सो स्थिति बन्ध है।

जिस प्रकार बकरी, गाय तथा भैंस आदि के दूध अपने-अपने स्वभाव से ही माधुर्य गुण से च्युत नहीं होते हैं उसी प्रकार कर्म भी अपनी-अपनी, प्रकृति से च्युत नहीं होते हैं।

जिस प्रकार दूध में रसविशेष, तीव्र अथवा मन्द आदि भाव से रहता है उसी प्रकार कर्मरूप पुद्गल में भी सामर्थ्य-विशेष तीव्र अथवा मन्द आदि भाव से रहता है। यही अनुभव बन्ध माना जाता है। आत्मा के कर्मरूप परिणत

पुद्गल स्कन्धों के समूह में परमाणु के प्रमाण से कल्पित परिच्छेदों-खण्डों की जो संख्या है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रकृति और प्रदेशबन्धयोग के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभवबन्ध कषाय के निमित्त से माने गये हैं।

जिसके द्वारा ज्ञान ढँका जाये अथवा जो स्वयं ज्ञान को ढँके वह ज्ञानावरण कर्म है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म की निरुक्ति को जानना चाहिए अर्थात् जिसके द्वारा दर्शन ढँका जाये अथवा जो स्वयं दर्शन को ढँके उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा सुख-दुःख का वेदन-अनुभव कराया जाये अथवा जो स्वयं सुख-दुःख का अनुभव करे वह वेदनीय कर्म है। जिसके द्वारा जीव मोहित किया जाये अथवा जो स्वयं मोहित करे वह मोहनीय कर्म है। जीव जिसके द्वारा नरकादि भव को प्राप्त कराया जाये अथवा जो स्वयं नरकादि भव को प्राप्त हो वह आयु कर्म है। आत्मा जिसके द्वारा नाना नामों को प्राप्त कराया जाये अथवा जो स्वयं आत्मा को नाना नामों से युक्त करे वह नामकर्म है। आत्मा जिसके द्वारा प्रयत्नपूर्वक उच्च अथवा नीच कहा जाता है वह गोत्र कहलाता है और जो यत्नपूर्वक देय आदि के बीच में आ जाता है। वह अन्तराय कर्म है। जिस प्रकार एक बार खाया हुआ अन्न रस, रक्त आदि नानारूपता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक आत्मपरिणाम के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल नाना कर्मरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। यह आठ प्रकार का मूल प्रकृतिबन्ध कहा गया हैं, अब इसके आगे उत्तर प्रकृतियों के भेद कहे जाते हैं।

ज्ञानावरण पाँच प्रकार का हैं, दर्शनावरण नौ प्रकार का हैं, वेदनीय दो प्रकार का हैं, मोहनीय अड्डाइस प्रकार का हैं, आयु चार प्रकार का हैं, नाम बयालिस प्रकार का हैं, गौत्र दो प्रकार का कहा गया हैं और अन्तराय पाँच प्रकार का हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच आवरण करने योग्य गुण हैं। इन्हें आवरण करने वाले मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ हैं। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शक्तिरूप से अभव्य जीव भी मनः पर्यय और केवलज्ञान से युक्त

है, अतः उसके भी ज्ञानावरण के पाँचों भेद स्थित हैं।

भव्य जीव की भव्यता उक्त गुणों के प्रकट होने की योग्यता सद्वाव की अपेक्षा रखती है और अभव्य जीव की अभव्यता केवलज्ञान तथा मनः पर्यय ज्ञान के प्रकट होने की योग्यता न होने की अपेक्षा से है।

किसी ने प्रश्न किया था कि जब भव्य और अभव्य दोनों के ही मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान की शक्ति विद्यमान हैं तब इनमें भव्यता और अभव्यता का भेद कैसे हुआ? इसका उत्तर ग्रन्थवर्जता ने दिया है कि भव्य जीव के उन शक्तियों की प्रकटता हो जाती है और अभव्य जीव के उनकी प्रकटता नहीं होती।

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार आवरण तथा निद्रा आदिक पाँच अर्थात् निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राएँ सब मिलाकर दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। जो जीव के चक्षुदर्शनचक्षुइन्द्रिय से होने वाले सामान्य अवलोकन को प्रकट न होने दे वह चक्षुदर्शनावरण है। जो अचक्षुदर्शन-चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों तथा मन से होनेवाले सामान्य अवलोकन को प्रकट न होने दे वह अचक्षुदर्शनावरण है। जो अवधिदर्शन - अवधिज्ञान के पहले प्रकट होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे यह अवधिदर्शनावरण है और जो केवलदर्शन - केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्यवलोकन को न होने दे वह केवलदर्शनावरण है। मद तथा खेद को दूर करने के लिए सोना निद्रा कहलाती है। ऊपर-ऊपर अधिक रूप से निद्रा का आना निद्रा-निद्रा कही जाती है। थकावट आदि से उत्पन्न होने वाली जो निद्रा जीव को बैठे-बैठे ही अत्यधिक चपल कर देवे वह प्रचला है। प्रचला जब बार-बार अधिक रूप में आती है तब प्रचला-प्रचला कहलाने लगती है। जिसके द्वारा आत्मा स्त्यान अर्थात् सोते समय गृह्णता करने लगे। किसी कर्म में सचेष्ट हो जावे और जिसके उदय से यह जीव अत्यधिक कठिन काम कर ले वह स्त्यानगृद्धि है। यह पाँच प्रकार की निद्रा, दर्शनावरण कर्म के उदय से आती है और इन निद्राओं के माध्यम से दर्शनावरण कर्म आत्मा

के दर्शनगुण को घातता है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं - सातावेदनीय और असातावेदनीय। जिनके उदय से शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। वे यथाक्रम से सातावेदनीय और असातावेदनीय कहलाते हैं।

मोहनीय कर्म के मूल में दो भेद हैं- (1) दर्शनमोहनीय (2) चारित्रमोहनीय। इनमें से दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्‌मिथ्यात्व ये तीन उत्तर प्रकृतियाँ हैं। आत्मा के शुभ परिणामों से जब मिथ्यात्व प्रकृति का स्वरस - फल देने की शक्ति रुक जाती है तब श्रद्धान करने वाले जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होता है। इस प्रकृति के उदय से आत्मा का श्रद्धानगुण तिरोहित नहीं होता किन्तु चल, मल, अगाढ़ दोषों से दूषित हो जाता है। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान गुण विकृत हो जाता है और अत्तत्व श्रद्धानरूपी परिणति हो जाती है। अर्ध शुद्ध कोदों की मदशक्ति के समान मिथ्यात्व प्रकृति के अर्द्ध शुद्ध होने पर जीव का जो शुद्ध और अशुद्ध भाव एक साथ प्रकट होता है वह सम्यग्‌मिथ्यात्व कहलाता है। सम्यग्‌मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के परिणाम दही और गुड़ के मिश्रित स्वाद के समान श्रद्धान और अश्रद्धान रूप होते हैं।

नोकषाय और कषाय के भेद से चारित्रमोह के दो भेद हैं। इनमें नोकषाय के नौ और कषाय के सोलह भेद कहे गये हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय के भेद हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-जिसके उदय से उत्सुक होता हुआ हास्य प्रकट हो वह हास्यकर्म है। जिसके उदय से रति-प्रीति उत्पन्न हो वह रति कर्म है। जिसके उदय से अरति-अप्रीति उत्पन्न हो वह अरति है। जिसके उदय से शोक हो वह शोक है। जो उद्वेग-भय उत्पन्न करनेवाला है वह भय है। जिसके उदय से अपने दोष छिपाने में प्रवृत्ति हो वह जुगुप्सा है। जिसके उदय से यह जीव स्त्री के भाव को अर्थात् पुरुष से रमने की इच्छा को प्राप्त होता है वह स्त्री वेद है। जिसके उदय से पुरुष के भाव का अर्थात् स्त्री से रमने की इच्छा को प्राप्त होता है वह पुरुष वेद है। और जिसके उदय से नपुंसक के भाव को - अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों से रमने की इच्छा को प्राप्त होता है वह नपुंसक वेद है।

कषाय के मूल में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्जवलन के भेद से चार भेद हैं। फिर प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ की अपेक्षा चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कषाय के कुल सोलह भेद हैं। इनमें से अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यदर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र के घातक हैं। जिसके उदय से आत्मा हिंसादि रूप परिणतियों का त्याग करने में समर्थ न हो सके वे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। और जिनके उदय से यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता तथा जो संयम के साथ विद्यमान रहते हैं वे संज्जवलन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

नारक, तैर्यग्योन, मानुष और देव के भेद से आयुकर्म चार प्रकार का कहा गया है। आयु कर्म के उदय से यह जीव नरकादि पर्यायों में उत्पन्न होता है।

जिसके उदय से जीव भवान्तर को प्राप्त होता है वह गति नाम कर्म है। देव तथा नरकादि के भेद से गतिनाम कर्म चार प्रकार का हैं। जिसके निमित्त से आत्मा में नरकादि पर्याय प्रकट होती है वह चार प्रकार का नरकादि नामकर्म है। उन नरकादि गतियों में जो अविरोधी समान धर्म से आत्मा को एक रूप करने वाली अवस्था है उसे जाति कहते हैं। उस जाति का जो निमित्त है वह जाति नामकर्म कहा जाता है इसके एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच भेद हैं। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रियादि जाति को प्राप्त होते हैं वह एकेन्द्रियादि जाति नाम कर्म कहलाता है।

जिसके उदय से औदारिक आदि पाँच शरीरों की रचना होती है वह औदारिक शरीरादि पाँच प्रकार का शरीर नाम कर्म है। जिसके उदय से शरीरों में अंगोपांग का विवेक होता है वह औदारिक शरीरांगोपांग को आदि लेकर तीन प्रकार का अंगोपांग नाम कर्म है जो जाति की अपेक्षा चक्षु आदि इन्द्रियों के स्थान और प्रमाण का निर्माण करते हैं वे स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण के भेद से दो प्रकार के निर्माण नाम कर्म हैं। जिसके उदय से, कर्मोदय के वश से प्राप्त पुद्गलों का परस्पर संश्लेष होता है वह बन्धन नाम कर्म

है। इसके औदारिक शरीर बन्धन आदि पाँच भेद हैं। जिसके उदय से शरीर के प्रदेशों का परस्पर छिद्ररहित संश्लेष होता है वह संघात नामकर्म है। संघातों का कभी अत्यय-विघटन नहीं होता इसलिए संघात नामकर्म सार्थक है। इसके औदारिक शरीर संघात आदि पाँच भेद हैं।

जिसके उदय से जीवों के शरीर की आकृति की रचना होती है। वह संस्थान नाम कर्म है। संस्थान अर्थात् आकृति को करे सो संस्थान है यह संस्थान शब्द की निरुक्ति है। वह संस्थान समचतुरस संस्थान, न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुञ्जक संस्थान, वामन संस्थान और हुण्डक संस्थान के भेद से छह प्रकार का होता है। जिसके उदय से सुडौल-सुन्दर शरीर की रचना हो वह समचतुरस संस्थान नाम कर्म है। जिसके उदय से शरीर के अवयव न्यग्रोध वट-वृक्ष के समान नाभि से नीचे छोटे और नाभि से ऊपर बड़े हो वह न्यग्रोध परिमण्डल नाम कर्म है। जिसके उदय से, शरीर की रचना स्वाति-सौंप की वामी के समान नाभि के नीचे विस्तृत और नाभि से ऊपर संकुचित हो वह स्वाति नामकर्म है।

जिसके उदय से शरीर में कूबड़ निकल आवे, वह कुञ्जक संस्थान है। जिसके उदय से शरीर वामन-बौना हो, वह वामन नामकर्म हैं और जिसके उदय से शरीर की आकृति बैडौल हो, वह हुण्डक संस्थान नामकर्म है।

जिसके उदय से हड्डियों का परस्पर मिलन और बन्धन अच्छी तरह होता है, वह संहनन नामकर्म है। इसके वज्रवृषभनाराच संहनन, बज्जनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलक संहनन और असंप्राप्ति संहनन ये छह भेद हैं। जिसके उदय से वज्र के वेष्टन, वज्र की कीलियाँ और वज्र के हाड़ हो उसे वज्रवृषभनाराच संहनन कहते हैं। जिसके उदय से कीलियाँ हाड़ तो वज्र के हों परन्तु वेष्टन वज्र के न हों वह वज्रनाराच संहनन है। जिसके उदय से हाड़ तथा सन्धियों की कीलें तो हो परन्तु वज्रमय न हों इसी तरह वेष्टन भी वज्रमय न हो उसे नाराचसंहनन कहते हैं। जिसके उदय से हड्डियाँ आधी कीलों से सहित हों उसे अर्धनाराचसंहनन कहते हैं। जिसके उदय से हाड़ परस्पर कीलित हों उसे कीलक संहनन कहते हैं और जिसके उदय से हाड़ों की सन्धियाँ कीलों

से रहित हों तथा मात्र नसों और मांस से बँधी हों उसे असंप्राप्ति संहनन कहते हैं। जिसके उदय से शरीर में स्पर्श की उत्पत्ति होती है वह स्पर्श नाम कर्म है। यह कड़ा, कोमल, गुरु, लघु, स्निग्ध, कक्ष, शीत और उष्ण के भेदों से आठ प्रकार का है। जिसके निमित्त से रस में भेद होता है वह रस नामकर्म कहा गया है। इसके कटुक, तिक, कषाय, आम्ल और मधुर के भेद से पाँच भेद हैं। जिसके उदय से गन्ध होता है वह गन्ध नामकर्म हैं। इसके सुगन्ध और दुर्गन्ध की अपेक्षा दो भेद जानना चाहिए। जिसके निमित्त से वर्ण में भेद होता है वह वर्ण नामकर्म है। यह कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल के भेद से पाँच प्रकार का है। जिसके उदय से विश्रह गति में पूर्व शरीर की आकृति का विनाश न हो वह नरक गत्यानुपूर्व आदि के भेद से चार प्रकार का आनुपूर्व नाम कर्म है। जिसके उदय से यह जीव भारीपन के कारण लोहे के समान नीचे नहीं गिरता है और लघुपन के कारण आक की रुई के समान ऊपर नहीं उड़ता है वह अगुरु लघु नाम कर्म कहा गया है। जिसके उदय से अपने ही बन्धन आदि से अपना ही घात होता है वह उपघात नामकर्म कहा गया है और जिसके उदय से दूसरों का घात होता है वह परघात नामकर्म है। जिसके उदय से शरीर में सूर्य के समान बहुत भारी आताप की उत्पत्ति होती है वह आताप नाम कर्म माना गया है इसका उदय सूर्य के विमान में स्थित बादरपृथिवीकायिक जीवों के ही होता है। इसकी विशेषता यह है कि यह मूल में ठण्डा होता है और इसकी प्रभा उष्ण होती है। जिसके उदय से शरीर में विशेष प्रकार का प्रकाश होता है वह उद्योत चन्द्रमा के विमान में स्थित बाद पृथिवीकायिक जीव तथा जुगनू आदि में देखा जाता है। जो उच्छ्वास का कारण है वह उच्छ्वास नाम कर्म माना गया है तथा जो आकाश में प्रशस्त एवं अप्रस्त गति कराने में समर्थ है वह विहायोगति नामकर्म है। जिसके उदय से ऐसे शरीर की रचना हो जो सदा एक ही आत्मा के उपभोग का कारण हो वह प्रत्येक शरीर एक ही शरीर अनेक जीवों के उपभोग का कारण होता है वे साधारण नामकर्म हैं जिसके उदय से नामकर्म है। जिसके उदय से जीवों का द्वीन्द्रियादिक जीवों में जन्म होता है वह त्रसनाम कर्म है। जिसके

उदय से इसके विपरीत सिर्फ ऐकेन्द्रिय जीवों में जन्म हो वह स्थावर नामकर्म हैं। जिसके निमित्त से वह जीव समस्त प्राणियों के लिए प्रीति करने वाला होता है वह सुभगनाम कर्म है। जिसके निमित्त से दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करनेवाला हो वह दुर्भगनाम कर्म है। जिससे मनोज्ञ स्वर की रचना होती है वह सुस्वर नामकर्म है। जो अनिष्ट स्पर का कारण है वह दुःस्वर नामकर्म है। जिससे शरीर में रमणीयता प्रकट होती है वह शुभ नामकर्म है। जो अत्यन्त विरूपता का कारण है वह दुःखदायी अशुभ नामकर्म है। जो सूक्ष्म शरीर का कारण है वह सूक्ष्म नाम कर्म है। जो दूसरों को बाधा करने वाला शरीर का हेतु है वह बादर नामकर्म है। जो आहार आदि पर्याप्तियों की रचना का कारण है वह पर्याप्ति नामकर्म है। विद्वानों ने इसके आहारपर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनः पर्याप्ति ये छह भेद कहे हैं।

जो आहार, शरीर, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रिय भाषा और मन इन छह पर्याप्तियों के अभाव का कारण है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। विग्रह गति के बाद उत्पत्ति स्थान में पहुँचने पर ग्रहण किये हुए आहार-वर्गण के परमाणुओं में खल रसभाग रूप परिणमन करने की जीव की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं। जिन परमाणुओं के खलरूप परिणमाया था उन्हें हड्डी आदि कठोर अवयव रूप तथा जिन्हें रसरूप परिणमाया था उन्हें रुधिर आदि तरल अवयव रूप परिणभावने की शक्ति की पूर्णता को शरीरपर्याप्ति कहते हैं। शरीर रूप परिणत परमाणुओं में स्पर्शनादि इन्द्रियों के आकार परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। भीतर की वायु को बाहर छोड़ना और बाहर की वायु को भीतर खींचने की भाषा वर्गण के परमाणुओं को शब्द रूप परिणमावने की शक्ति को पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं। शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं। और मनोवर्ग के परमाणुओं को हृदय-क्षेत्र में स्थित आठ पाँखड़ी के कमलाकार द्रव्यमनरूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को मनः पर्याप्ति कहते हैं। इनमें से ऐकेन्द्रिय की चार पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक मन को छोड़कर जीव के भाषा और मन को छोड़ कर शेष पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं और सैनी

पंचेन्द्रिय जीव के सभी पर्याप्तियाँ होती हैं जिसके उदय में पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं वह पर्याप्तिक नाम कर्म है और जिसके उदय से एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती वह अपर्याप्तिक नामकर्म है। यहाँ अपर्याप्तिक शब्द से लब्धयपर्याप्तिक जीव की विवक्षा है, निरपृत्यपर्याप्तिक की नहीं। क्योंकि वह कर्मोदय की अपेक्षा तो पर्याप्तिक तो ही है सिर्फ निर्वृति-रचना की अपेक्षा लघु अन्तर्मुहूर्त के लिए अपर्याप्तिक होता है। जो धातु-उपधातुओं की स्थिरता का कारण है वह स्थिर नाम कर्म है और जो इससे विपरीत अस्थिरता कारण है वह अस्थिर नामकर्म है, जो प्रभावपूर्ण शरीर का कारण है वह आदेय नाम कर्म है और जो प्रभा-रहित शरीर का कारण है वह अनादेय नामकर्म है। जो पुण्यरूप गुणों की प्रसिद्धि का कारण है वह यशः कीर्ति नामकर्म कहलाता है और जो इससे विपरीत अपयश का कारण है वह अपयशस्कीर्ति नामकर्म है। और जो तीर्थकर पर्याय का कारण है वह तीर्थकर नामकर्म है यह सातिशय पुण्य प्रकृति है। इस प्रकार नामकर्म की तिरानवे उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

गौत्र कर्म के दो भेद हैं-(1) उच्चगौत्र और (2) नीचगौत्र। जिसके उदय से लोकपूज्य कुल में जन्म होता है उसे उच्चगौत्र कहते हैं और जिसके उदय से नीचकुलों में जन्म होता है वह नीच गौत्र है।

अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं- (1) दानान्तराय, (2) लाभान्तराय, (3) भोगान्तराय, (4) उपभोगान्तराय और (5) वीर्यान्तराय। जिसके उदय से जीवदान करने की इच्छा रखते हुए भी दान न कर सके वह दानान्तराय है। जिसके उदय से लाभ की इच्छा रखते हुए भी लाभ प्राप्त न कर सके वह लाभान्तराय है। जीव, भोग की इच्छा रखता हुआ भी उपभोग की इच्छा रखता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता वह उपभोगान्तराय है। और जिसके उदय से भोग नहीं सकता वह भोगान्तराय है। और जिसके उदय से कार्यों में उत्साहित होता हुआ भी उत्साह प्रकट नहीं कर सकता वह अन्तराय नाम कर्म है। इस प्रकार यह प्रकृति बन्ध का निरूपण किया। अब स्थितिबन्ध का निरूपण करते हैं। आठों कर्मों की स्थितिबन्ध, जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा दो प्रकार का कहा जाता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ीकोड़ी सागर है और नाम तथा गोत्र कर्म की बीस कोड़ा सागर है। यह उत्कृष्ट स्थिति संझी पंचेन्द्रिय पर्याप्तिक जीव के ही बँधती है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त है तथा शेष पाँच कर्मों की अन्तमुहूर्त है।

कषायों की तीव्रता, मन्दता आदि भावास्वर की विशेषता से जो उनका विशिष्ट परिपाक होता है उसे अनुभव कहते हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की विभिन्नता से कर्मों का जो विविध-नाना प्रकार का परिपाक होता है वह अनुभव बन्ध कहलाता है। शुभ परिणामों से जिस प्रकार पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव बन्ध होता है उसी प्रकार पाप प्रकृतियों का जघन्य अनुभव बन्ध होता है और अशुभ परिणामों की विशेषता से जिस प्रकार अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव बन्ध होता है उसी प्रकार शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभव बन्ध होता है।

प्रत्येक समय पुण्य और पाप प्रकृतियों का अनुभव बन्ध जारी रहता है जिस समय शुभ परिणामों की प्रकृष्टता होती है उस समय पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव बन्ध होता है और पाप प्रकृतियों का जघन्य अनुभव होता है। इसी प्रकार जिस समय अशुभ परिणामों की विशेषता से पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभव होता है उस समय पुण्य प्रकृतियों का जघन्य अनुभव बन्ध होता है।

कर्मों की समस्त मूल प्रकृतियाँ स्वमुख से ही अनुभव में आती हैं अपना फल देती है और मोहनीय तथा आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों का तुल्य जातीय प्रकृतियाँ स्वमुख तथा परमुख-दोनों रूप से अनुभव में आती हैं-फल देती हैं।

जिस प्रकृति का जिस रूप बन्ध हुआ है उसका उसी रूप उदय आना स्वमुख से उदय आना कहलाता है। और अन्य प्रकृति का रूप उदय आना परमुख से उदय आना कहलाता है। कर्मों की ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियाँ

सदा स्वमुख से ही उदय में आती है अर्थात् ज्ञानावरण का उदय दर्शनावरणादि रूप कभी नहीं होता है। परन्तु उत्तर प्रकृतियों में एक कर्म की प्रकृतियाँ स्वमुख तथा परमुख दोनों रूप से फल देती हैं। जैसे वेदनीय कर्म की साता वेदनीय और असाता वेदनीय ये दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें साता वेदनीय का उदय साता रूप भी आ सकता है और असाता रूप भी आ सकता है। इसी प्रकार असाता वेदनीय का उदय असाता रूप भी सकता है और साता रूप भी। जिस समय अपने रूप उदय आता है उस समय स्वमुख से उदय आना कहलाता है और जिस समय अन्यरूप उदय आता है उस समय परमुख से उदय आना कहलाता है। विशेषता यह है कि मोहनीय कर्म के जो दर्शन मोह और चारित्र मोह भेद है उनकी प्रकृतियाँ परस्पर एक दूसरे रूप में उदय नहीं आती-सदा स्वमुख ही उदय आती है परन्तु इन भेदों की जो अवान्तर उत्तर प्रकृतियाँ हैं उनका दोनों से उदय आता है इसी प्रकार आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों का सदा स्वमुख से ही उदय आता हैं परमुख से नहीं। जैसे नरकायु का सदा नरकायु रूप ही उदय आता है अन्य रूप नहीं।

विपाक से और तप से कर्मों की निर्जरा होती है। इस निर्जरा में एक निर्जरा तो विपाकजा है और दूसरी अविपाकजा है।

निर्जरा के विपाकजा और अविपाकजा के भेद से दो भेद हैं। संसार के भ्रमण करने वाले जीव का कर्म जब फल देने लगता है तब क्रम से ही उसकी निवृत्ति होती है, वही विपाकजा निर्जरा कहलाती है। और जिस समय आम आदि फलों को उपाय द्वारा असमय में ही पका लिया जाता है उसी प्रकार उदयावली में अप्राप्त कर्म की तपश्चरण आदि उपाय से निश्चित समय से पूर्व ही उदीरणा द्वारा जो शीघ्र ही निर्जरा की जाती है वह अविपाकजा निर्जरा है।

आत्मा के समस्त प्रदेशों के साथ कर्मपरमाणुओं का जो बन्ध है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है। इस प्रदेशबन्ध की सन्तति में अनन्तानन्त प्रदेशों से युक्त घनांगुल के असंरण्येय-भाग प्रमाणक्षेत्र में अवगाढ़ एक, दो, तीन आदि संख्यात समयों की स्थितिवाले कर्मरूप पुदग्ल आत्मा के समस्त प्रदेशों

में सदा विद्यमान रहते हैं। उपर्युक्त कर्मबन्ध पुण्यबन्ध, और पापबन्ध के भेद से दो प्रकार का है, उनमें शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र और सद्देव्य ये चार पुण्यबन्ध के भेद हैं और शेष कर्म पापबन्ध रूप हैं।

आसव का रुक जाना संवर कहलाता है। यह भावसंवर और द्रव्यसंवर के भेद से दो प्रकार का कहा जाता है। संसार की कारणभूत क्रियाओं का रुक जाना भावसंवर है और कर्मरूप पुदगल द्रव्य के ग्रहण का विच्छेद हो जाना द्रव्यसंवर है। तीन गुणियाँ, पाँच समितियाँ, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, पाँच चारित्र और बाईंस परिषहजय ये अपने अवान्तर विस्तार से सहित संवर कारण हैं। निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक मुनि के बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा जो समस्त कर्मों का अत्यन्त क्षय होता है वह मोक्ष कहलाता है इन जीवादि सात तत्वों का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् साधन है। मोक्षमार्ग में स्थित कितने ही अन्य जीव एक ही भव में सिद्ध हो जाते हैं और कितने ही भव्य स्वर्ग के सुख भागेकर सदा आत्मा का ध्यान करते हुए सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

दिव्य संदेश से धर्म की प्रभावना-

इस प्रकार नेमि जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ निर्मल मोक्षमार्ग सुनकर बारह सभाओं के लोगों ने हाथ जोड़कर भगवान् को नमस्कार किया। श्रोताओं में से कितने ही लोगों ने सम्यग्दर्शन धारण किया, कितने ही लोगों ने संयमासंयम प्राप्त किया और संसारवास से डरनेवाले कितने ही लोगों ने पूर्ण संयम मुनिव्रत स्वीकृत किया। उस समय दो हजार राजाओं ने, दो हजार कन्याओं ने एवं हजारों रानियों ने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए पूर्ण संयम को प्राप्त किया। शिपादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी तथा अन्य देवियों ने श्रावकों का चारित्र स्वीकृत किया। यदुकुल और भोजकुल के श्रेष्ठ राजा तथा अनेक सुकुमारियाँ जिनमार्ग की ज्ञाताषन बारह अणुवतों की धारक हो गयी। जो देवों के साथ पूजा कर चुके थे, ऐसे इन्द्र तथा बलभद्र और कृष्ण आदि यादव, जिनेन्द्ररूपी सूर्य को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान पर चले गये।

तदनन्तर जो समस्त दिशाओं को उज्ज्वल कर रही है, मेघों के द्वारा

धुले हुए सुन्दर आकाश मण्डल को जो निर्मल ग्रहों और ताराओं से पुष्पित बना रही थी एवं जो बन्धूक, कमल और सप्तर्ण के सुगन्धित नूतन फूलों की अंजलि छोड़ रही थी ऐसी शरदऋतु, भक्ति से भरी लोकत्रयी के समान जिनेन्द्रदेव के चरणों के समीप आयी।

सिद्ध - स्वरूप

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्यवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ ॥(1)

पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजकात्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥(2)

(तत्त्वार्थ वार्तिके अध्याय 10, पृ.724)

इस प्रकार तत्त्वपरिज्ञान करके अत्यन्त विरक्त आत्मा आसवरहित होने से नूतन कर्म सन्तति के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त कारणों के द्वारा पूर्वार्जित कर्मों का क्षय कर संसार के बीजभूत मोहनीय कर्म को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है।

ततोऽन्तरायज्ञानघ्न दर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत्रीणि कर्मण्यशेषतः ॥(3)

गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा तालो विनश्यति।
तथा कर्मक्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥(4)

उसके बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीनों कर्म अशेषरूप से एक साथ नष्ट हो जाते हैं। जैसे- गर्भसूची-मस्तकछत्र के (या जड़ के) नष्ट हो जाने पर (नष्ट होते ही) तालवृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही शेष तीन घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं।

ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुकः स्नातकः परमेश्वरः ॥(5)

इसके बाद चार घातिया कर्मों का नाश कर अथा (यथा) ख्यातसंयम को प्राप्त और बीजबन्धन (कर्मबीज बन्धन) से निर्युक्त आत्मा स्नातक परमेश्वर बन जाता है।

**शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥(6)**

शेष चार अघातिया कर्मों का उदय रहते हुए भी आत्मा शुद्ध - बुद्ध नियमय सर्वज्ञ, सर्वदर्शी केवली जिन हो जाता है।

**कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥(7)**

जैसे जली हुई अग्नि ईंधन आदि उपादान न रहने पर बुझ जाती है उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने से आत्मा निर्वाण को प्राप्त हो जाती है, ऊर्ध्वगमन कर जाती है।

**दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥(8)**

जैसे बीज के अत्यन्त जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

**तदनन्तरमेवोर्ध्वं - मालोकान्तात् स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगसङ्गत्वं - बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥(9)**

कर्मक्षय के अनन्तर आत्मा पूर्वप्रयोग, असंगत्व, बन्धच्छेद और ऊर्ध्वगौरव धर्म के कारण लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन करता है।

**कुलालचक्रडोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
पूर्वप्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥(10)**

**मूल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टोऽप्स्वलाबुनः ।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥(11)**

जैसे— कुम्भकार के चक्र या बाण में पूर्व प्रयोगवश क्रिया होती रहती

है, उसी प्रकार पूर्व प्रयोगवश कर्मों से छूटते ही आत्मा पर ऊर्ध्वगमन बताया गया है। जिस प्रकार मिठ्ठी का लेप छूट जाने पर पानी में डूबी हुई अलाबू (तूंबड़ी) ऊपर आ जाती है वैसे ही कर्मलेप के हट जाने पर स्वाभाविक सिद्ध गति होती है अर्थात् कर्मों के लेप से रहित आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है।

**एरण्डयन्त्रपेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥(12)**

अरण्डबीज, यन्त्र तथा पेला आदि में जैसे बन्धच्छेद होने पर ऊर्ध्वगमन होता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध का उच्छेद होने पर आत्मा का ऊर्ध्वगमन होता है, सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

**ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥(13)**

**यथाधर्स्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्वाटवाग्निदीपयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम् ॥(14)**

**अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥(15)**

जिनेन्द्र भगवान के जीव को ऊर्ध्वगौरवधर्मा तथा पुद्गल को अधोगौरवधर्मा कहा है। जिस प्रकार लोष, वायु और अग्निशिखा स्वभाव से ही नीचे, तिरछे और ऊपर को जाती है, उसी प्रकार आत्मा की स्वभावतः ऊर्ध्वगति होती है। संसारी जीवों की जो विकृत गति पाई जाती है वह यातो प्रयोग से है या फिर कर्मों के प्रतिघात से है।

**स्यादधर्स्तिर्यगूर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥(16)**

संसारी जीवों की कर्मजा (कर्मों से होने वाली) गति अधः (नीचे), तिरछे और ऊपर भी होती है, परन्तु क्षीणकर्मा जीवों की गति स्वभावसे ऊर्ध्व होती है।

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।

समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥(17)

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह ।

युगपद्वतो यद्वत्थानिवर्णकर्मणोः ॥(18)

जिस प्रकार परमाणुद्रव्य में लोकान्तगमिनी क्रिया की उत्पत्ति, आरम्भ और समाप्ति युगपद (एक साथ) होती है उसी प्रकार संसार के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा की गति की उत्पत्ति आरम्भ और समाप्ति एक साथ होती है। जैसे - प्रकाश की उत्पत्ति और अन्धकार का विनाश एक ही साथ (एक ही समय में) होता है, उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति और कर्मों का नाश एक ही समय में होता है।

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा ।
प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्धिन् व्यवस्थिता ॥(19)

नूलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा ।
ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥(20)

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने ।

सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाः हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥(21)

लोक के शिखर पर अतिशय मनोज्ञ, तन्वी, सुरभि, पुण्य और परमभासुरी प्राग्भारा नाम की वसुधा अवस्थित है। यह मनुष्यलोक के समान विस्तार वाली (45 लाख योजन विस्तृत) शुभ एवं शुक्ल छत्र के समान है। लोकान्त में इस पृथ्वी पर सिद्ध विराजमान होते हैं। वे सिद्ध भगवान केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व और सिद्धत्व में तट्रूप से उपयुक्त हैं और क्रिया के कारणों का अभाव होने से निष्क्रिय हैं।

ततोऽप्यूर्धगतिस्तेषां करमान्नास्तीति चेन्मतिः ।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥(22)

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥(23)

'उससे भी ऊपर उनकी गति क्यों नहीं होती है?' इसका समाधान यह है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश के बाहर सिद्धों का गमन नहीं होता। परम् ऋषियों ने सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, अव्यय (विनाशरहित) और अव्याबाध (बाधारहित) कहा है।

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्यत्र से श्रृणु ॥(24)

लोके चतुर्बिंहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये, वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥(25)

सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ॥(26)

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मकलेशवियोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥(27)

'अशरीरी, नष्ट-अष्टकर्मा मुक्तजीवों के कैसे, क्या सुख होता है?' इसका समाधान सुनिये-इस लोकमें चार अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग होता है। विषयवेदना का अभाव, विपाक, कर्मफल और मोक्ष। 'अग्नि सुखकर है' 'वायु सुखकारी है', इत्यादि में सुख शब्द विषयार्थक है। रोगादि दुःखों के अभाव में पुरुष 'मैं सुखी हूँ' ऐसा समझता है, वह वेदनाभाव सुख है, पुण्यकर्म के विपाक (उदय) से जो इष्ट इन्द्रिय विषयों से सुखानुभूति होती है वह विपाकज सुख है और कर्म और कलेश के विमोक्ष (नष्ट) होने से मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त होता है - वह मोक्षसुख है।

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम् ।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतरतथा ॥(28)

श्रमकलममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात् ।
मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥(29)

कोई मोक्षसुख को सुप्तावस्था के समान मानते हैं, परन्तु सुप्तावस्था के समान सुख मानना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसुख में सुखानुभव रूप

क्रिया होती रहती है और सुसावस्था तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से श्रम-क्लम-मद्, भय, व्यधि काम आदि निमित्तों से उत्पन्न होती है और मोहोत्पत्ति का विकार है।

लोके तत्सदृशो हृथः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरूपमं स्मृतम्॥(30)

लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।
अलिङ्गं चाऽप्रसिद्धं च तत्तेनानुपमं स्मृतम्॥(31)

सारे संसार में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जिससे उस सुख (मोक्षसुख) की उपमा दी जाय। अतः मोक्षसुख परम निरूपम है। लिंग और प्रसिद्धि में, अनुमान और उपमान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है परन्तु यह सिद्धों का सुख न तो लिङ्ग से अनुभित होता है न किसी प्रसिद्ध पदार्थ से उपमित होता है अतः यह सिद्धों का सुख अलिङ्ग एवं अप्रसिद्ध होने से निरूपम कहा है।

